पुण्यकीर्त्तन

पुराय-कीर्त्तन

(प्रथम भाग)

प्रणेता

चन्द्रशेखर ओझा

खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर।

१९३९।

66

विषय-सूची।

—o—

प्रारंभिक वक्तव्य ।

इस पुस्तक का नाम "पुण्यकीर्तन" है। यह नाम कई दृष्टियों से सार्थक है। इसमें पुण्यात्माओंका कीर्तन किया गया है। भारत के प्रसिद्ध प्राचीन पुण्यात्माओंका चरित इसमें लिखा गया है। दूसरी बात यह है कि यह कीर्तन पुण्यमय है, इस कीर्तन के करनेवाले पुण्यभागी होते हैं; और तीसरी बात यह है कि यह कीर्तन पुण्य के लिए किया गया है। अतएव इस पुस्तक का नाम हम पुण्यकीर्तन रखते हैं और उसे सार्थतम समझते हैं।

एक मित्र कहते हैं कि इस पुस्तक का नाम 'चरित' रखा-जाय, पर हम 'चरित' नाम देने से डरते हैं। हमारे डरने का जो कारण है वह भी सुन लीजिये। हमने भारतीय ऋषि-महर्षियों के वृत्तान्त इस पुस्तक में संगृहीत किये हैं। पर सुना जाता है कि जमाना पलटगया और इस कारण पुराणों की ऐतिहासिकता छिनगयी, पुराण की बातें कल्पित हैं, ऐसी दशामें पुराणों से जो वृत्तान्त हमने संगृहीत किये हैं उन्हें चरित बतलाने का साहस हम कैसे करसकते हैं? क्यों कि चरित भी तो इतिहास के उपादान हैं। अब आपही बतलावें कि अनैतिहासिक उपदानों से गठित इन वृत्तान्तों को हम चरित कहते डरें तो क्या कुछ बेजा है। इसी पलटेहुए जमाने के डरसे हम 'चरित' नाम रखना उचित नहीं समझते, चाहे आप इसे हमारी कमजोरी भलेही समझें, पर बात सच्ची यही है, आप इस कमजोरी के लिये चाहे हमारा उपहास करें,

पर हमतो यह समझकर सन्तोष करते हैं कि कमजोरी भी आदमी में ही होती है।

इस पुण्यकीर्तन को लोग पसन्द क गे कि नहीं, इस बात का हमको कुछ भी भय नहीं है; जमाना पलट गया, पर भारत का हृदय नहीं पलटा है। वसिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, अगस्त्य, गौतम आदिक नाम सुनतेही आज भी भारतवासी प्रसन्न होते हैं। बड़े बड़े राजनीतिक नेता भी इन महर्षियों का गुणगान करते हैं, इनकी कही बातें, इनके समय के दृश्य, इनके समयकी घटनाएँ तथा इनसे संबन्ध रखनेवाली अन्य बातें लोग अपने व्याख्यानों में श्रोताओं पर प्रभाव डालने के लिए कहते हैं। ऐसी दशामें नापसन्दगी का कौन भय! इसके अतिरिक्त इस पुस्तक के संबन्ध में एक और आक्षेप योग्य बात है जिसका छिपाना हम अनुचित समझते हैं, इस पुस्तक में बहुत प्राचीन काल की बातें पुराणों के आधार पर और पुराने ढंगसे लिखी गयी हैं। उनपर न तो आलोचना की गयी है और न अपनी सम्मति ही लिखी गयी है। ये बातें नवीनता के इस युगमें आक्षेप योग्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। अतएव इस सम्बन्ध में हमारी कैसी स्थिति है सो हम बतला देना आवश्यक समझते हैं। तीन बातें आक्षेप योग्य हुईं— १ प्राचीन घटनाका वर्णन,२ प्राचीनढंग से वर्णन, ३ आलोचना या सम्मति का अभाव। अच्छा, इनके सम्बन्ध में हमारी कैफियत भी सुन लीजिए।

१—हमें प्राचीन घटना प्रिय है, विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध पढ़ते सुनते तथा कहते हमें अच्छा मालूम होता है, विश्वामित्र के मुँह से जब हम सुनते हैं कि ब्रह्मबल बल है, और

परोक्ष में वशिष्ठ के मुँह से जब विश्वामित्र की प्रशंसा सुनते हैं, तो बड़ा आनन्द आता है। इसी प्रकार और प्राचीन बातों के संबंध में भी समझिए। हमारी समझ है कि यह नवीनता उसी प्राचीनता से उत्पन्न हुई होनी चाहिए, हमारी नवीनता का सम्बन्ध उसी प्राचीनता से होना चाहिए। नवीन वही है जिसका कुछ प्राचीन है, प्राचीन के बिना नवीन नहीं, अतएव हमारी यह इच्छा होती है कि बार बार अपनी प्राचीनता की आवृत्ति करें। इस नवीनता से मिलावें, देखें इसमें प्राचीनता के कुछ उपादान हैं कि नहीं, लोगों को सुनावें, समझावें।

२—घटना प्राचीन है, फिर उसके लिये लिखने का नया ढंग काम में लाना तो अच्छा नहीं दीखता। वाल्मीकि को मि० वाल्मीकि लिखना हमें तो भाता नहीं, आश्रमों के स्थान में बंगलों का उल्लेख चाहे कोई करे, पर हम तो ऐसा दुःसाहस नहीं कर सकते।

३—हम भला क्या आलोचना करें और सम्मति भी क्या दें, अगस्त्यजी ने बढ़ते हुए विन्ध्याचल को नवा दिया। यह एक घटना है, इसकी आलोचना हम क्या करें और सम्मति भी क्या दें। आलोचना करने वालों के लिये इस बात को जानने की जरूरत है कि अगस्त्य विन्ध्य घटना क्यों हुई। इन दोनों की शक्ति, इन दोनों के सम्बन्ध तथा उस समय की स्थिति इन बातों का भी ज्ञान समालोचक को होना चाहिए, पर दुःख है कि बहुत ढूँढ़ने पर भी अगस्त्य विन्ध्य की घटना की और सामग्रियाँ हमें नहीं मिलीं। हम भला अगस्त्य की शक्ति का अन्दाज़ा कैसे लगा सकते हैं? समुद्र सोखनेवाले कहाँ अगस्त्य, और कहाँ एक लोटे में घबराने वाले हम!

ऐसी स्थिति में हमने जो किया है वह आपके सामने है। यदि आपको प्राचीनता से प्रेम हो यदि आप प्राचीन विचारों को पढ़कर ऊबते न हों, और यदि आप प्राचीनता को नवीनता का उत्पादक समझते हों, तो एक बार इस पुस्तक को पढ़ देखिए।

—चन्द्रशेखर

पुण्य-कीर्त्तन
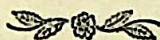
प्रथम भाग

महर्षि कश्यप

ब्रह्मा के दस मानस पुत्र थे। उन में एक प्रजापति मरीचि थे। मरीचि अरिष्टनेमी नाम से भी प्रसिद्ध थे। इन की माता का नाम कला था। ये महासती थीं और कर्दम ऋषि की पुत्री थीं। उनके भाई का नाम कपिल मुनि था। ये वे ही कपिल मुनि हैं जिन्हों ने संसार में सबसे पहले ज्ञानप्रसार किया था। इन्हीं मरीचि के पुत्र कश्यप थे। कश्यप ने दक्ष प्रजापति की अदिति, दिति, कपिला, विनता, इत्यादि तेरह कन्याओं से विवाह किया था।

कश्यप बड़े ही तेजस्वी, तपस्वी और ज्ञानी थे। उनकी जटा अग्नि के समान दीप्तिमान् थी। वे अग्नि के समान प्रज्व-लित रहते थे, उनके समीप जाना कठिन काम था। वे सब ऋषियों में प्रतिष्ठत थे। देवता, दानव आदि उनके पुत्र हैं कष्यप ऋषि की अदिति नामक स्त्री के गर्भ से आदित्य उत्पन्न हुए थे। विष्णु भगवान् ने वामन रूप धारण किया था और उनका जन्म इन्हीं अदिति के गर्भ से हुआ था। ये ऋषि प्रजा-

पति थे। देवता, दानव, मनुष्य आदि इन्हीं के वंशज हैं। भागवत में लिखा है कि इनकी १७ स्त्रियाँ थीं उन से सृष्टि के अनेक प्राणियों की उत्पत्ति हुई थी। अदिति से देवता, दिति से दैत्य, दनु से दानव, काष्ठा से अश्व आदि, अरिष्टा से गंधर्व, सुरसा से राक्षस, मुनि से अप्सरा, क्रोध-वशा से सर्प, काम्रा से श्येन और गृध्र आदि, सुरभी से गौ और भैंस, सरमा से श्वापद, तिमि से जलचर, विनता से गरूड़ और अरुण, कद्रू से नाग, पतंगी से आकाशचारी पक्षी और यामिनी से कीड़े, पतंगे आदि पैदा हुए।

कश्यप मुनि बड़े ही नीतिप्रिय थे, वे नीति के विरुद्ध किसी का भी आचरण देख नहीं सकते थे। वे सदा धर्म का पक्ष लेते थे। वह धर्म चाहे जिसके पक्ष में हो। चाहे प्रिय हो चाहे अप्रिय हो; यदि उसका पक्ष अधर्म का हो, तो कश्यप मुनि उसकी तरफदारी कभी नहीं करते थे। धर्मानुकूल पक्ष ही इनका पक्ष था। इन्द्र कश्यप के प्रिय पुत्र हैं, उनका जन्म अदिति के गर्भ से हुआ है। एक समय इन्द्र कश्यप के पास बैठे थे, वहाँ मयदानव आया और उसने इन्द्र से कहा—देवराज, इन्द्र का पद शिव जी ने आप को दिया है। और विद्याधर चक्रवर्तिपद पर सूर्यप्रभ का वरण किया है। मय की बातें सुन कर इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। इन्द्र ने झट अपना वज्र उठाया और वे मयदानव को मारने के लिये तैयार हो गये। यह देख कर कश्यप को बड़ा क्रोध आया और वे मय की ओर से इन्द्र का सामना करने के लिये तैयार हुए। पिता को सामने देख इन्द्र ने वज्र रख दिया और हाथ जोड़ कर उन्हों ने पिता से कहा—भगवन्, मैंने श्रुतशर्मा को

विद्याधर चक्रवर्ती का राज्य पद दिया है। अब यह मय दानव उस राज्य को छीन लेने के लिये तैयार हुआ है। अब बतलाइये, ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए? शत्रुताचरण करनेवाले मय दानव का वध करना क्या हमारे लिए पाप होगा? कश्यप ने कहा—बेटा इन्द्र, तुमको श्रुतशर्म्मा प्रिय है इसमें संदेह नहीं, और सूर्यप्रभ शिव जी को प्रिय है यह भी सच्ची बात है। श्रुतशर्म्मा और सूर्यप्रभ इन दोनों में चक्रवर्तिपद पाने के लिए कौन अधिक योग्य है, इसका यदि विचार किया जाय तो सूर्यप्रभ ही इस पद के लिये सब प्रकार से योग्य ठहरता है। क्या तुम समझते हो कि शिव जी का प्रेम निष्फल जायगा? दूसरी बात यह है कि मय दानव को शिव जी ने इस काम में सहायता करने की आज्ञा दी है। उस पर तुम क्यों क्रोध करते हो? उस का अपराध क्या है? वह सदा अपने बड़ों के साथ नम्रता का व्यवहार करता है। उसको यदि तुम दुःख दोगे तो स्मरण रखो, शाप दे कर मैं तुम्हें भस्म कर दूँगा। तुम को चाहिए कि तुम सदा न्यायपूर्वक बर्ताव करो। किसी के साथ अन्यायाचरण भूल कर भी न करो। इन्द्र, तुम को समझ रखना चाहिये कि मैं अन्यायियों से घृणा करता हूँ और न्यायवानों से प्रेम। कश्यप ने मय दानव से कहा—इन्द्र ने क्रोधपूर्वक तुम्हारे ऊपर वज्र उठाया था, पर नम्रता और गम्भीरतापूर्वक तुम ने उसका सहन किया। तुम्हारा यह विवेक धन्यवाद के योग्य है। तुम्हारे इस विवेक से प्रसन्न हो कर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि जरा मृत्यु की बाधा तुम्हें न होगी शस्त्रों से तुम्हारे शरीर की कोई हानि न होगी। सूर्यप्रभ भी तुम्हारे ही समान पराक्रमी

होगा । कोई भी शत्रु उसे हरा न सकेगा । यदि किसी समय किसी कारण तुम पर कोई आपत्ति आवे तो तुम हमारे पुत्र सुवास कुमार का स्मरण करना । वह अवश्य ही तुम्हारी सहायता करेगा ।

इस प्रकार के और भी उदाहरण हैं जिन से कश्यप की न्यायप्रियता का परिचय मिलता है । कश्यप के जीवन सम्बन्धी घटनाओं पर विचार करना हमलोगों की शक्ति के बाहर की बात है । वे ऋषि थे, परम ज्ञानी थे और इस महती सृष्टि के निर्माता थे । उन्हों ने जैसे प्रवाह बहाये वैसे बहे । यदि कोई अनुशीलनप्रिय कश्यप के गुणों पर विचार करना चाहता हो, इनके जीवन की घटनाओं पर सम्मति प्रकाशित करना चाहता हो, तो उसे कश्यप की सृष्टि का अध्ययन करना चाहिए । पर यह काम सीधा नहीं ।

कश्यप ऋषि सप्तऋषियों में थे । इन्हीं की कृपा से नर-वाहनदत्त को विद्याधर चक्रवर्ती का पद मिला था । इन्हीं ने एक स्मृति का ग्रन्थ बनाया है, जो कश्यप स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है । मेरु पर्वत के शिखर पर इनका आश्रम था और वहीं ये परमात्मा का चिन्तन किया करते थे ।

कपिल मुनि ।

यह महात्मा कर्दम ऋषि जो कि प्रजापति थे, उन के पुत्र थे । यह कपिल मुनि विष्णु के चौबीस अवतारों के अन्तर्गत पाँचवें अवतार समझे जाते हैं । इनकी माता का नाम देवहूति था । और ये स्वायम्भुवमनु की पुत्री थीं । कपिलदेव का जन्म

पुष्कर नगर के पास किसी स्थान में हुआ था। ये महामुनि सिद्ध नाम से देवताओं की गणना में गिने जाते हैं। यह बड़े तेजस्वी थे। इन का अवतार परोपकार के लिए हुआ था। मनुष्यतारक सांख्य योग प्रकट कर पृथ्वी में अनेक अधर्मों का इन्हों ने नाश किया। सांसारिक कामों में और भोगविलासों में कभी नाम मात्र भी चित्त नहीं लगाते थे। मंगलमय भगवत्स्वरूप कपिल मुनि ने अपनी माता देवहूति को मुक्ति देने के लिए मातृप्रेम से—जहाँ पर योगेश्वर भक्ति द्वारा सिद्धि को प्राप्त करते हैं—उस सरस्वती क्षेत्र में ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, जिसके द्वारा माता देवहूति ने मुक्ति प्राप्त की। वहाँ पर कपिल मुनि का आश्रम है। थोड़े दिनों के पश्चात् वे वहाँ से उत्तर दिशा में गंगा किनारे गये। वहाँ जाकर उन्हों ने मनुष्यों का उद्धार करने के लिए प्रबल प्रयत्न किया। गंगासागर से आते समय समुद्र ने उनकी पूजा कर बैठने के लिए आसन दिया था। वहाँ पर बैठ कर उन्हों ने योगाभ्यास किया था। इस लिए कि कलियुगवासी मेरा दर्शन कर पापों से मुक्त हों, इस समय भी गंगासागर में कलकत्ते के पास कपिल मुनि का आश्रम वर्त्तमान है। उस की यात्रा करके निमित्त हजारों मनुष्य जाते हैं। सगर राजा ने ९९ यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण किये थे। आखिरी अश्वमेध यज्ञ करने के समय इन्द्र ने जाकर यज्ञ के अश्व को पाताल में जहाँ पर कपिलदेव समाधि में बैठे थे वहाँ बाँध दिया। उस अश्व की रखवाली सगर के ६० हजार पुत्र करते थे। लोग अश्व को ढूँढ़ते २ थक गये, किन्तु कुछ पता नहीं लगा। अन्त में वे निराश हो कर सगर राजा के पास आये। सगर ने उनको पाताल में भेजा। वहाँ

जाकर उन लोगों ने अश्व को कपिल मुनि जी के पीछे की तरफ बँधा हुआ पाया। बस, तुरन्त ही वे लोग जोश में आकर बोले कि इस अश्व का चोर यह बैठा हुआ मुनि ही होगा। ऐसा समझ कर सब के सब एक साथ चिल्ला उठे और कहने लगे कि यह अश्व हमारा है; इसको छोड़ो २! उसी प्रकार उन्हों ने चोर समझ कर मुनिदेव को मारना शुरू किया। इस कारण कपिलदेव की समाधि भंग हुई। उन्होंने आँख खोल कर उन लोगों को सामने देखा। महर्षि की आँख की क्रोधाग्नि में समस्त सगरपुत्र जल कर भस्म हो गये। पीछे से खबर ले जाने के लिए एक भी नहीं बचा। बहुत समय व्यतीत होने पर भी अश्व की खबर लेकर कोई नहीं लौटा, इस का क्या कारण है? यह विचार कर सगर ने अंशुमान को भेजा। उस ने कपिल मुनि की स्तुति कर अश्व को प्राप्त किया। कपिलदेव ने कहा कि ये तेरे चाचा जल कर भस्म हो गये हैं। वे लोग गंगा के स्पर्श से मुक्ति पावेंगे। यह सुन कर मुनि की आज्ञा ले वह रवाना हुआ। कपिलदेव पृथ्वी पर अनेक स्थानों में भ्रमण करते हुए सांख्य ज्ञान का उपदेश देते थे। अनेक समाजों में उन्हों ने अपने विचारों को प्रकट कर वादविवाद किया था।

महर्षि कपिल के बनाये सांख्य दर्शन का नाम तत्व समास है। वह बहुत ही छोटा है। सांख्य दर्शन के भाष्यकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि इस समय पाया जाने वाला सांख्य दर्शन भी महर्षि कपिल का ही बनाया है। आज कल पाये जाने वाले सांख्य दर्शन को सांख्यप्रवचन कहते हैं। इसका कारण यह है कि तत्वसमास नामक ग्रन्थ का इसमें

प्रपंच किया गया है और पातञ्जल दर्शन भी इसी कारण से प्रवचन कहा जाता है ।

सांख्य दर्शन में ईश्वर नहीं माना गया है । एक प्रकार से इस दर्शन में ईश्वर का खंडन किया गया है । अतएव इस दर्शन का दूसरा नाम निरीश्वर सांख्यदर्शन भी है । विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सूत्रकार का तात्पर्य ईश्वरखण्डन में नहीं है । सूत्रकार का तात्पर्य केवल इतनाही है कि ईश्वर के न मानने पर भी विवेक साक्षात्कार के द्वारा मुक्ति होने में कोई बाधा नहीं होती । यदि ईश्वर का खण्डन करना सूत्रकार का अभिप्राय होता तो वे "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र न बना कर "ईश्वराभावात्" सूत्र बनाते । वाचस्पति मिश्र इस बात को नहीं मानते । उनके मत से सांख्य-दर्शन निरीश्वर दर्शन है ।

महर्षि कपिल के शिष्य आसुरि और आसुरि के शिष्य पञ्चशिख आचार्य ने सांख्य दर्शन के बहुत से ग्रन्थ बनाये हैं । पर इस समय वे सब ग्रन्थ लुप्त हो गये हैं । उनमें बहुतों का इस समय पता मिलना भी कठिन हो गया है । ईश्वर कृष्ण ने "सांख्यकारिका" नामक ग्रन्थ बनाया है । यह ग्रन्थ प्रामाणिक और उत्तम समझा जाता है । इस समय सांख्यदर्शन के जो सूत्र पाये जाते हैं उनकी अपेक्षा कारिका का आदर प्राचीन आचार्यों ने भी अधिक किया है । भगवान् शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन के मत खण्डन करने के समय सूत्र को छोड़कर सांख्य कारिका ही उद्धृत की है । इससे यह बात स्पष्ट मालूम पड़ती है कि भगवान् शंकराचार्य के मत से प्रचलित सांख्यसूत्रों की अपेक्षा

सांख्याकारिका अधिक आदरणीय है। प्रचलित सांख्यदर्शन में ४५६ सूत्र हैं। ये सूत्र ६ अध्यायों में विभक्त हैं। पहले अध्याय में हेय, हेयहेतु, हान और हानहेतु का निरूपण है। दुःख हेय है, प्रकृति पुरुष का अविवेक अथवा अभेद ज्ञान ही दुःख का हेतु है। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति हान है। प्रकृति और प्रकृति की कार्य बुद्धि आदि से भिन्न हैं—इस प्रकार का ज्ञान अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का कारण है। प्रथम अध्याय में इन्हीं बातों का निर्णय किया गया है। दूसरे अध्याय में प्रकृति के सूक्ष्म कार्य, तीसरे अध्याय में प्रकृति के स्थूल कार्य, लिंग शरीर, स्थूल शरीर, अपर वैराग्य और पर वैराग्य का निरूपण किया गया है। चौथे अध्याय में शास्त्रप्रसिद्ध आख्यायिकाओं के द्वारा विवेकज्ञान के साधन का उपदेश दिया गया है। पाँचवें अध्याय में अपने विरोधि मत का खण्डन किया गया है और छठे अध्याय में इस शास्त्र के मुख्य विषयों की व्याख्या और उपसंहार किया गया है।

विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि श्रवण के पश्चात् आत्मा के मनन के लिये महर्षि कपिल ने इस दर्शन का प्रणयन किया है। यह दर्शन श्रुति का विरोधि नहीं है और इस में श्रुति के अनुकूल उपपत्ति और युक्तियाँ दी गई हैं। ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका गौडपादाचार्य कृत सांख्यकारिका भाष्य, वाचस्पति मिश्र कृत सांख्यतत्वकौमुदी, विज्ञानभिक्षु कृत सांख्य भाष्य आदि इस दर्शन के प्रामाणिक ग्रथ हैं और इस समय उपलब्ध होते है। सांख्य दर्शन का पहला सूत्र है—

" अथत्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः "

न्याय-दर्शन के समान सांख्य दर्शन भी त्रिविध दुःखों को अत्यन्त निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ मानता है । दुःख तीन प्रकार के हैं, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक । भीतरी कारणों से उत्पन्न दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं । शरीर और इन्द्रियों के संघात को ही साधारण लोग आत्मा कहते हैं । इस संघात से उत्पन्न दुःख आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है । वह दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानस । वात, पित्त और श्लेष्मा की साम्यावस्था का नाम आरोग्य है । उन की विषमता से ही रोग उत्पन्न होते हैं । इन की विषमता के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों से जो दुःख उत्पन्न होता है वह शारीरिक है । काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है वह मानस दुःख है । आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख बाहरी कारणों से उत्पन्न होते हैं । मनुष्य, पशु, तथा स्थावर आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है, वह आधिभौतिक दुःख है; क्योंकि ऐसे दुःख भूत नामक पदार्थों से ही उत्पन्न होते हैं । यक्ष, राक्षस आदि के लगने से जो दुःख होता है वह आधिदैविक दुःख है । इन तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही मुक्ति है । विवेक ज्ञान त्रिविध दुःख निवृत्ति के अथच मुक्ति के हेतु हैं । प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान को विवेक ज्ञान कहते हैं । विवेक ज्ञान प्राप्त कराने के लिए ही सांख्य दर्शन उत्पन्न हुआ है ।

सांख्याचार्य कहते हैं–यदि संसार में दुःख न होता, अथवा उस दुःख को दूर करने की इच्छा लोगों में न होती, तो कोई

भी शास्त्रीय बातों के जानने का प्रयत्न न करता। पर बात ऐसी नहीं है, मनुष्य दुःखों का अनुभव करता है और दुःख को बुरा समझता है। ऐसा कोई भी नहीं है जो दुःख को अच्छा समझता हो। जो अनुकूल नहीं है उस के त्याग की इच्छा मनुष्यों में स्वभाव से ही उत्पन्न होती है। अन्य शास्त्र अथवा सांख्य दर्शन दुःखों को दूर करने का उपाय बतलाते हैं, इसी लिए लोग शास्त्र कथित बातों को जानने के लिए उत्सुक होते हैं और शास्त्र रचयिता के विषय में श्रद्धा प्रकट करते हैं। जनता जिस बात को जानना न चाहे यदि वक्ता वह बात कहे, तो कोई भी उस वक्ता की बातें नहीं सुनता। कोई कोई तो वैसे वक्ता को उन्मादी समझ लेते हैं और उसकी उपेक्षा करते हैं। जिस दुःख से जनता नितान्त व्याकुल है और वह उस दुःख को दूर करना चाहती है, शास्त्र उसी दुःख को दूर करने का उपाय बतलाते हैं। अतएव शास्त्र की बातें जनता को इष्ट हैं और आवश्यक भी हैं। ऐसी दशा में शास्त्रीय बातों को कौन मनुष्य ध्यानपूर्वक न सुनेगा।

यह बात ठीक है कि शास्त्र में कहे उपायों से दुःख दूर करना होता है; पर वे उपाय हैं कठिन। शास्त्र में विवेक ज्ञान को दुःख दूर करने का हेतु बतलाया है, पर विवेक ज्ञान प्राप्त करना तो सीधी बात नहीं है। अनेक जन्मों के प्रयत्न से विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। यही बात भगवान ने गीता में कही है :—

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।"

पर लौकिक उपायों से इन दुःखों को दूर करना आसान

है। अच्छे वैद्य की दवा से शरीर संबन्धी रोग दूर हो जाते हैं; इसी प्रकार मन प्रसन्न करने वाले उपायों द्वारा मानसिक रोग दूर होते हैं। नीति-शास्त्र कुशलता तथा निरापद अच्छे स्थानों में रहने से आधिभौतिक दुःख और मणि, मन्त्र आदि के द्वारा आधिदैविक दुःख भी दूर किये जा सकते हैं और सो भी थोड़े परिश्रम से। ऐसे दुःख दूर करने के सरल उपायों के रहते शास्त्रोपदिष्ट कठिन उपायों के करने के लिए कौन तैयार होगा। संस्कृत की एक कहावत है :—

अर्कके चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥१॥

अर्थः—यदि घर के कोने में मधु मिल जाय तो मधु के लिए कोई पर्वत पर क्यों जायेगा। यदि अनायास ही इष्ट की सिद्धि हो तो उसके लिए कौन मनुष्य प्रयत्न करना पसन्द करेगा।

यद्यपि आपत्ति बड़ी मज़बूत मालूम पड़ती है, पर विचार करने से इसका पोलापन अनायास ही समझ में आ जाता है। देखा गया है कि पथ्यपूर्वक औषध सेवन करने पर तथा मन प्रसन्न करनेवाले उपायों और मणि, मन्त्र आदि के द्वारा भी आध्यात्मिक आदि दुःख दूर नहीं होते। इससे इस बात के मानलेने में सन्देह का कारण नहीं है कि इन उपायो से भी दुःख दूर होते हैं; पर इस बात का निश्चय नहीं है कि इनके द्वारा अवश्य ही दुःख दूर होते हैं दूसरी बात यह है कि कभी २ इनके द्वारा दुःखों के दूर होने पर वे पुनः हो जाते हैं। पर विवेक ज्ञान के लिए यह बात नहीं है, उसके द्वारा

दुःख अवश्य ही दूर होते हैं, और विवेक ज्ञान के द्वारा एक बार दुःखों के दूर होने पर वे पुनः उत्पन्न नहीं होते, यह भी निश्चित है । क्योंकि मिथ्या ज्ञान ही दुःखों का कारण है, सो विवेक ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है। फिर कारण के नष्ट होने पर कार्य के उत्पन्न होने की सम्भावना कैसी ?

यज्ञादि के अनुष्ठान करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और दुःख रहित सुख का ही नाम स्वर्ग है। फिर जब इस प्रकार थोड़े कष्ट से दुःख निवृत हो रही है तब अनेक जन्म साध्य विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न करना अनर्थक है। यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वर्गप्राप्त द्वारा जो दुःखों का नाश होता है कुछ काल के लिए उससे दुःख का अत्यन्त विच्छेद नहीं होता, क्योंकि यज्ञ में पशु आदि हिंसा करनी पड़ती है। इस दर्शन के मत से श्रुतिकथित हिंसा भी पाप है। यज्ञ के द्वारा जिस प्रकार पुण्य होता है, उसी प्रकार यज्ञीयहिंसा जनित पाप भी होता है। यह बात दूसरी है कि पाप की मात्रा बहुत ही कम होती है, पर पुण्य के साथ पाप भी होता है, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण यज्ञ के द्वारा जो स्वर्ग प्राप्त होता है, उसमें सुख के साथ दुःख की मात्रा थोड़ी ही सही, पर रहती है अवश्य। पर उसका अनुभव स्वर्गीय व्यक्ति को इस कारण नहीं होता कि वे सुख की अधिकता से मुग्ध होते हैं, सुखराशि में थोड़ा सा दुःख ऐसा मिल जाता है कि उसका भान ही नहीं होता।

सांख्य धर्मसिद्धान्तः—ब्रह्मविद्या आत्मनिष्ठयोगी पुरुष के कल्याण का कारण है। उसी के द्वारा सुख

दुःख की निवृत्ति होती है, चित्तही जीव के बन्धन तथा मुक्ति का कारण है। चित्त के ही विषयों में आसक्त होने के कारण जीव का बंधन होता है और ब्रह्म में संलग्न होने से मुक्ति प्राप्त होती है। शरीर में आकाश, अग्नि, जल, और पृथिव्यादि तत्त्वों के स्वरूपों को जान कर प्राण, अपान की गति रोकने से असंग चैतन्यरूप आत्मा अपनी स्वयं प्रकाशमान ज्योति से प्रकाशमान होता है। तब यह देह रूप सम्पूर्ण इन्द्रियों का व्यवहार मिथ्या जान पड़ता है। सांख्य ज्ञान में चौबीस तत्त्वों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष माना गया है। ज्ञान रूपी आत्मा, पुरुष चैतन्य है, वह केवल अकर्ता साक्षी रूप है। सृष्टि कार्य, सुख, दुःखादि रूप बनाने वाली तो तीन गुणवाली प्रकृति है। प्रकृति जड़ है, और भोक्ता रूप आत्मा पुरुष चेतन है। दोनों साथ में रहते हैं; प्रकृति रूपान्तर को प्राप्त होती है। उस प्रकार पुरुष रूपान्तर को नहीं प्राप्त होता। प्रकृति पुरुष के संबन्ध से ही स्वतः गति को प्राप्त होती है और पुरुष प्रकृति के कर्मादि को अपना मान कर मोह को प्राप्त हो जीवरूप से बँधा हुआ रह कर दुःखी होता है और बराबर शुभाशुभ कार्यों को करता है। इसी कारण जन्म जन्मान्तर को प्राप्त हुआ करता है। इस जन्म मरण रूपी रोग को दूर करने के लिये सूक्ष्म (लिङ्ग) देह का सम्बन्ध छोड़ देने पर मुक्ति मिल सकती है। अनेक प्रकार के सुख दुःख प्रकृति के धर्म हैं। और आत्मा स्वयं अकर्ता है, इस प्रकार आत्म पुरुष को जब ज्ञान होता है तब मोक्ष मिलता है। आत्मसंबन्धी संपूर्ण ज्ञानों से प्रकृति का क्षय होता है तब प्रकृति का बंधन

टूटने पर शुद्ध चैतन्य प्रतीत होता है और तभी मोक्ष होता है। इत्यादि।

कपिलमुनि का उपदेश ज्ञानप्रद है। इस बात को जाननेके लिए सज्जनों को प्रयत्न करना चाहिए। यह महात्मा मुनि तपोबल से निरहंकार अर्थात् देहादि में अहं बुद्धि शून्य अखंड भक्ति द्वारा ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हुए हैं।

भगवान् कपिल अमर हैं, उनका भौतिक शरीर नष्ट हो गया; फिर भी वे अमर हैं और रहेंगे। उन्होंने संसार में भारत में सब से पहले दार्शनिक ज्योति प्रकाशित की है। संसार के दुःखी प्राणियों पर सबसे पहले इन्होंने दया की, सब से पहले इन्होंने ही तीन प्रकार के दुःखों को सदा के लिए दूर करने का उपाय बतलाया। इस प्रकार अनुपम उपकार करने वाला क्या अमर नहीं है? क्या मानव जाति अपने इस प्रथम दार्शनिक को भूल जायगी? भूलना नहीं चाहिए; यदि वह भूले तो स्वयं उस की ही आत्मा अपने को कृतघ्न समझेगी।

गुरु दत्तात्रेय।

ये परमब्रह्मनिष्ठ अवधूत योगी अत्रि ऋषि के पुत्र थे। उन की माता का नाम अनसूया था। उन परम पवित्र सती के दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा ये तीन पुत्र थे। विष्णु, महादेव और ब्रह्मा इन तीनों देवताओं ने मिल कर उन के गर्भ से अवतार धारण किया था। यह अवतार विष्णु भगवान् के चौबीस अवतारों के अन्तर्गत गिना जाता है बेद का ज्ञान

और ज्ञानकाण्ड के द्वारा गुरु ज्ञान का उपदेश देने के लिये यह अवतार त्रेता युग में हुआ था। वे महा विद्वान्, प्रवीण और सुरूप थे। षट्शास्त्रों का अध्ययन कर उन शास्त्रों के सिद्धान्तों के याथार्थ्य का निश्चय किया था। उनमें से वेदान्त शास्त्र को उन्हों ने प्रधान माना है। ये अवधूत योगी, त्रिकालदर्शी, समर्थ, ज्ञानी, निर्विकारी और अमृतवद्भाषण करनेवाले थे और विषय भोग, स्त्री पुत्रादि से रहित हो कर सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त हुए। विद्वान् होने पर भी बालोन्मत्त, जड़ और पिशाच के समान ब्रह्मध्यान में मग्न होकर भूमि पर भ्रमण करते थे। योग क्रिया में उन्हों ने अनेक प्रकार की वृद्धि तथा संशोधन किया है। उस में सर्वदर्शी किस प्रकार बना जा सकता है, परकाय प्रवेश किस प्रकार किया जा सकता है, जगद्रचना तथा अनेक प्रकार के शरीरों की रचना किस प्रकार से जाननी चाहिये—इत्यादि ज्ञान सम्बन्धी बातों का निश्चय किया है। इन्हों ने अपनी योग क्रिया से अनेक चमत्कारकृत्य किये हैं, जिस में इन्होंने अंधे को आँख, लंगड़े को पाँव और मृतक को जीवित किया है। इन्होंने अलर्क, प्रह्लाद, सहस्रार्जुन और यदु को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। इस संसार रूपी माया के जाल से विमुक्त होने के लिये इन्हों ने प्रथम अपनी बुद्धि से ही निश्चित किये हुए २४ गुरुओं को ग्रहण कर स्वदोषों का त्याग किया था। उसी ज्ञान का उपदेश इन्हों ने गोदावरी नदी के तट पर यदु राजा को किया था। उस का सारांश नीचे लिखा जाता है—

दत्तात्रेय के चौबीस गुरु।

पृथ्वी—पृथ्वी को मनुष्य तथा अन्यप्राणी कितना ही दबाते हुए दुष्कर्म करते हैं तथापि वह अपने नियम से चलायमान नहीं होती। इसी प्रकार साधु पुरुषों को भी कोई कितना ही दबावे, उसे कितने ही कष्ट सहन करने पड़ें, परन्तु वह तब भी अपने नियम अथवा कर्तव्य से कदापि चलायमान नहीं होते। यह गुण उन्हों ने पृथ्वी से सीखा था।

पर्वत—पर्वत भी पृथ्वीरूप है, वह अचल है। झाड़, झङ्खाड़ और झरने इत्यादि उत्पन्न करने की उस की सम्पूर्ण क्रियायें निरन्तर परोपकार के लिये ही हुआ करती हैं। उसी प्रकार साधु पुरुष को भी अपनी समस्त क्रियायें और जीवन भी परोपकारार्थ ही समझना चाहिये।

वृक्ष—वृक्ष भी पृथ्वी है; यह निरन्तर पराधीन, और उस के समस्त फल फूल परोपकार के लिये ही हैं। चाहें उसे कोई काट डाले या समूल उखाड़ ले जाय, उसे यह सब स्वीकार है। उसी प्रकार साधु पुरुष को भी पराधीन रह कर उसे सब बात स्वीकार करनी चाहिये। चाहे उसे कोई अपने काम के लिये मार डाले अथवा उठा ले जाय।

२ वायु—वायु जल में रहने से प्रसन्न नहीं और अग्नि में रहने से नाराज नहीं होता। उसी प्रकार योगी पुरुष को भी शीत उष्णादिक—अनेक धर्मवाले विषयों में अनुकूलता

या प्रतिकूलता होने पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होना चाहिये। वायु जिस प्रकार सुगन्धित या दुर्गन्धित मालूम होता है, किन्तु वास्तव में न तो वह सुगन्धित है और न दुर्गन्धित ही है। उसी प्रकार आत्मा भी पृथिव्यादि के विकार रूप देहादिक के साथ रहने से जन्म-मरणादि युक्त प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में न वह जन्म लेता है और न मरता ही है। यह उन्हों ने वायु से सीखा था।

प्राण—प्राण भी वायुरूप ही है। वह जिस प्रकार आहार मिलने से सन्तुष्ट होता है, किन्तु रूप रसादिक इन्द्रियों के विषयों की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार योगीपुरुष को भी आहार प्राप्त होने से सन्तोष रखना चाहिये, किन्तु अच्छे बुरे आहार की अथवा दूसरे विषयों की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। केवल शरीर के निर्वाह के लिये जैसा आहार मिल जाय वैसा ही खा लेना चाहिये।

३ आकाश—यद्यपि आकाश सर्वव्यापि है, पर तब भी उस को किसी का साथ नहीं है या किसी पदार्थ से उस का माप भी नहीं हो सकता; उसी प्रकार देह के अन्दर होने पर भी योगी को ब्रह्मरूप की भावना से अपनी आत्मा को स्थावर जंगमों में व्याप्त समझ कर उस आत्मा को देहादिक से सम्बन्ध नहीं है, या किसी पदार्थ से उस का माप नहीं हो, सकता ऐसा समझना चाहिये। और भी, आकाश को जिस प्रकार वायु से

प्रस्ति आने जाने वाले मेघ अथवा धूलि आदि पदार्थों, का स्पर्श नहीं होता उसी प्रकार काल से उत्पन्न पृथ्वी, जल और देहादिक पदार्थ जो कि शरीर में आया जाया करते हैं और उन का स्पर्श अपने को नहीं होता, इसी प्रकार योगी जन को जानना चाहिये । यह शिक्षा उन्हों ने आकाश से ग्रहण की ।

४ जल—जल मनुष्यों को स्वच्छ, मधुर और पवित्र करने वाला है । इसी प्रकार योगी पुरुष को भी स्वच्छ और शुद्ध रह कर मधुर बोलना और दूसरों को उपदेश देकर उन्हें भी शुद्ध करना चाहिये । यह शिक्षा जल से ग्रहण की ।

५ अग्नि—जिस प्रकार तेजस्वी, प्रताप से दीप्तिमान्, सम्पूर्ण वस्तुओं को भस्म कर खा जाने पर भी दोष से रहित रहती है, कहीं गुप्त रीति से और कहीं प्रकट रीति से रह कर और कल्याण की इच्छा रखनेवालों से उपासना करने योग्य है, हवि देने वालों के भूत और भविष्य के पापों को भस्म कर दूसरों की इच्छा से सब जगह खा लेती है, उसी प्रकार योगी पुरुष को भी कहीं गुप्त कहीं प्रगट रहना और कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों से उपासना करने योग्य रहना चाहिये । औ अन्न देनेवालों के भूत, भविष्य के सम्पूर्ण पापों को जला डालना चाहिये । और अग्नि जिस प्रकार काष्ठ रहने के कारण और काष्ठ अनेक प्रकार के छोटे होने से उनमें रहनेवाली अग्नि छोटी बड़ी नहीं क जा सकती, उसी प्रकार आत्मा भी अपनी अवि

के कारण ऊँच या नीच देहों में रहने से ऊँच या नीच मालूम होती है; किन्तु वास्तव में वह आत्मा ऊँच या नीच नहीं है। इसी प्रकार योगी जन को विचारना चाहिये। अग्नि की ज्वाला जिस प्रकार क्षण क्षण में नई उत्पन्न होती है और क्षण २ में नाश होती है, किन्तु वह हमलोगों के जानने में नहीं आती, उसी प्रकार अविच्छिन्न देह वाले काल से आत्मा का शरीर भी क्षण भर में नाश होता है और क्षण में ही नया उत्पन्न होता है, लेकिन हमलोगों के जानने में नहीं आता। इसलिये शरीर को क्षणभंगुर समझ कर योगी पुरुष को वैराग्य रखना चाहिये। यह शिक्षा अग्नि से उन्होंने ग्रहण की।

६ चन्द्र—चन्द्र की प्रकाश रूप कला जिस प्रकार क्षय वृद्धि को प्राप्त हुआ करती है, किन्तु चन्द्रमा में उससे कुछ भी विकार नहीं होता, उसी प्रकार जन्म से मरण पर्यन्त के ६ विकार भी गुप्त रीति से बीतते हुए काल के वश से शरीर को ही होते हैं, किन्तु आत्मा को ये विकार नहीं प्राप्त होते। यह शिक्षा चन्द्रमा से उन्होंने ग्रहण की।

७ सूर्य्य—जिस प्रकार सूर्य आठ महीने तक अपनी किरणों के द्वारा जल को पृथ्वी से ग्रहण कर के वर्षाऋतु आने पर पुनः किरणों द्वारा त्याग देता है और उसकी प्राप्ति या त्याग के विषय में अभिनिवेश नहीं करता, उसी प्रकार योगी पुरुष को भी चाहिये कि वह अपेक्षित पदार्थों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करा लिया करे और

किसी के माँगने पर उसे दे भी दे; और उन पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिये। किन्तु उसमें "यह मुझे प्राप्त हुआ था; यह मैंने दे दिया" ऐसा अभिनिवेश नहीं करना चाहिये। सूर्य एकही है, किन्तु उसके प्रति-बिम्ब जलपात्र या तालाब आदि उपाधियों में पड़ने से स्थूल बुद्धि वालों को अनेक सूर्य मालूम होते हैं, किन्तु वह वास्तव में ऐसा नहीं है; वैसे ही परमात्मा का प्रकाश सम्पूर्ण वस्तुओं में होने पर भी परमात्मा अद्वि-तीय (एकही) है, यह शिक्षा सूर्य से ग्रहण की।

८ होला नामक—एक पक्षी अपनी स्त्री होली के प्रेम में फँसा हुआ था। होली के बच्चे हुए। एक समय वे दोनों बच्चों के वास्ते चारा लेने गये थे उसी समय एक शिकारी ने आकर उनके बच्चों को जाल में फँसा लिया। होला तथा होली ने आकर रोना बिलपना शुरू किया। बच्चे जाल में तड़प २ कर चिल्लाने लगे। यह देख कर अत्यन्त कष्ट से होली उनके पास 'चाँ' 'चाँ' करती जा पहुँची। प्रेम से आतुर और ईश्वरीय माया से व्यग्र चित्तवाली होली बच्चों को बँधा हुआ देखने पर भी स्मृति भूल जाने से जाल में जा फँसी। यह देख होला भी निराश हुआ और प्राण से भी अधिक बच्चों और स्त्री को इस प्रकार फसे हुए देख विलाप करता हुआ वह मूर्ख भी जीने की आशा छोड़ मृत्यु का ग्रास बन गया। सफल क्रूर शिकारी ने घर जाकर उन सबों को मार डाला। इस प्रकार जो कुटुंबी मनुष्य अशांत चित्त वाला, सुख दुःखादिक पदार्थों में लगा

हुआ कुटुम्ब का हीं सिर्फ पोषण किया करता है वह मनुष्य इस होले के समान परिवार सहित दुःखी होता है। घर की आसक्ति पशु, पक्षियों को भी अनर्थदायी होती है, तब मनुष्यों को अनर्थकारी होने में क्या संदेह है? इसलिए मुक्ति का खुला द्वार रूप मनुष्यावतार को पाकर जो मनुष्य होले के समान घर में आसक्त होकर रहता है उसको विद्वान् लोग ऊपर चढ़ कर गिरा हुआ समझते हैं।

९ अजगर—जिस प्रकार अजगर उद्यम रहित होकर अच्छा बुरा, कम या ज्यादा जो कुछ ईश्वर की इच्छा से प्राप्त हो जाता है उसी को खाकर पड़ा रहता है, वैसेही योगीजन को भी उद्यम रहित होकर जो कुछ भला बुरा, थोड़ा या अधिक मिल जाय उसको खाकर निर्वाह करना चाहहिये; और जिस प्रकार उद्यम रहित मनुष्य को भी प्रारब्धवशात् सुख दुःख स्वयं ही प्राप्त हुआ करते हैं उसी प्रकार चाहे नरक में रहो या स्वर्ग में परन्तु वहाँ पर भी इन्द्रिय सम्बन्धी सुख अवश्य प्राप्त होता है। इस के लिये (भिक्षा के लिये) इधर उधर धक्का न खाकर जो कुछ ईश्वरेच्छा से प्राप्त हो जाय उसी का खाकर प्रसन्न रहना चाहिये। इस शिक्षा को उन्होंने अजगर से प्राप्त किया।

१० समुद्र—जिस तरह ऊपर से प्रसन्न, अन्दर से गंभीर, अन्त या पार से रहित है, उसी प्रकार योगी पुरुष को भी वाहर से प्रसन्न, अन्दर से गंभीर, अन्त या पार-रहित और रागद्वेषादिक से निर्लेप, निर्विकार रहना

चाहिये; और समुद्र वर्षा ऋतु में अनेक नदियों के संगम से भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और ग्रीष्म ऋतु में नदियों का संगम बन्द हो जाने पर सूखता भी नहीं, वैसे ही ज्ञानियों को भी ईश्वरपरायण हो कर वैभवादिक से प्रसन्न नहीं होना चाहिये और उन के न मिलने से दुःखी भी नहीं होना चाहिये; अर्थात् लाभ होने से न तो हर्ष मानना चाहिये और हानि होने से शोक भी न मानना चाहिये।

११ पतंग—जिस तरह दीपक की दीप्ति को देखकर लालच के अधीन हो कर उस में जा पड़ता है, वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष भी ईश्वरीय मायारूप स्त्री के रूप को देख उस के विलासों में ललचा कर महामोह में मोहित हो जाता है। स्त्री, सुवर्ण, आभरण और वस्त्रादि पदार्थों में जो कि सब माया स्वरूप ही हैं उपभोग बुद्धि से ललचा कर अन्धे के समान मूढ पुरुष पतंग के समान नाश को प्राप्त होता है। इस कारण ज्ञानी पुरुष को स्त्री, पुत्र, धनादि के मोह में नहीं फँसना चाहिये, यह शिक्षा उन्हों ने पतंग से ली।

१२ भ्रमर—जिस प्रकार सुगंध के लोभ से एक ही कमल में लुब्ध हो जाता है और सूर्यास्त होने पर उसी में बन्द हो जाता है, उसी प्रकर योगी को अच्छा पदार्थ मिलने पर एक ही जगह में नहीं रहना चाहिये। ऐसा करने से वहाँ के प्रेम में वह बँध जाता है; इस लिये योगी पुरुष को चाहिये कि किसी एक ही गृहस्थ को न सता कर भ्रमण करते हुए जो कुछ थोड़ा बहुत

मिल जाय उसे खाकर शरीर यात्रा का निर्वाह करे, न कि भ्रमर की तरह एक ही स्थान में अति प्रेम वश हो बँध जाय। भ्रमर जिस प्रकार छोटे बड़े पुष्पों में से सार वस्तु को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार योगी को भी छोटे बड़े शास्त्रों में से विचार-पूर्वक सार वस्तु को ग्रहण करना चाहिये।

१३ मधुमक्खी—जिस प्रकार अनेक यत्न कर मधु को एकत्रित कर के मृत्यु के अधीन हो जाती है और मधु वहीं का वहीं पड़ा रह जाता है, योगी को चाहिये कि वह जितना अपने हाथ में आसके उतने से अपने पेट का पालन करे और उस के लिये दूसरा पात्र न रक्खे। पेट ही को पात्र समझे, वह सायंकाल या आगामी दिन के लिये अन्न संग्रह न करे; ऐसा करने से मधुमक्खी की तरह अन्न के साथ ही वह स्वयं भी नष्ट होता है।

१४ हाथी—जिस प्रकार सामने बनावटी कागज की हथिनी को देख उस के मोह से गड्हे में पड़कर बन्धन को प्राप्त होता है, वैसेही पुरुष भी स्त्री के अंगों के स्पर्श की इच्छा से उसमें आसक्त हो जाता है। इस लिये योगी को स्त्री तो क्या, कठपुतली को भी न देखना चाहिये।

१५ भील—जिस तरह मधुमक्खी द्वारा अनेक संकटों को सहन कर के पेड़, कन्दरा आदि स्थल में एकत्रित मधु को भोगता है वैसेही अनेक संकटों को सहन कर लोभी मनुष्य के द्वारा एकत्रित किया

हुआ धन गुप्त स्थल में से भी लेजाकर बलवान् पुरुष भोगते हैं। इसलिये योगी पुरुष को किसी वस्तु का संग्रह बिलकुल नहीं करना चाहिये; और मधुमक्खी के एकत्रित मधु को भील जिस प्रकार प्रथम हीं भोगता है उसी प्रकार योगी पुरुष को भी गृहस्थ के यहाँ बना हुआ अन्न यदि उसने न खाया हो तो प्रथम हीं खालेना चाहिये (गृहस्थ को भी उचित है कि वह प्रथम संन्यासी को भोजन कराकर पश्चात् स्वयं भोजन करे, यह शास्त्र की मर्यादा है। सारांश यह है कि योगी पुरुष को उद्यम के बिना भी भोजन प्राप्त हो जाता है) यह ज्ञान भील से उन्होंने ग्रहण किया।

१६ हरिण—जिस प्रकार शिकारी के गायन को सुनकर और मोहित होकर बन्धन को प्राप्त हो जाता है, वैसेही जंगल में भ्रमण करने वाले योगी पुरुष भी गान सुनें तो मोह को प्राप्त हो बँध जाते हैं। इस कारण संन्यासी को कभी विषय सम्बंधी गान न सुनना चाहिये। मृगी के पुत्र ऋष्यश्रृङ्ग ऋषि वेश्याओं के विषय-संबन्धी नाच, बाजे गानादिक सुनकर पुतले के समान उन के अधीन हो गये थे। इस कारण योगी को विषय सम्बन्धी गान बिलकुल नहीं सुनना चाहिये, इस शिक्षा को हरिण से उन्हों ने ग्रहण किया।

१७ मछली—जिस तरह जीभ के लालच से काँटे से बिंधकर मृत्यु को प्राप्त होती है वैसेही रसमोही देहाभिमानी

मनुष्य भी अत्यन्त कष्टदायी जिह्वा की लालच से मृत्यु को प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष आहार को त्यागकर दूसरी इन्द्रियों को शीघ्र हीं जीत लेते हैं, किन्तु उनसे रसना (जीभ) इन्द्रिय नहीं जीती जा सकती। कारण यह है कि आहार के त्याग से जीभ की लालच और ज्यादा बढ़ती है और सब इन्द्रियों को भी जीत लेने पर भी जबतक जीभ न जीती जायगी, जबतक मनुष्य जितेन्द्रिय नही कहा जा सकता। जीभ को जीतने से और इन्द्रियों को जीतना कठिन नहीं है। इस कारण इस में आसक्ति न रखकर योगी पुरुष को चाहिये कि वह अन्न को औषध के समान समझ कर खाय। यह ज्ञान मछली से उन्होंने ग्रहण किया।

१८ पिंगला—नाम की एक वेश्या विदेह राजा के नगर में रहती थी। वह एक दिन पुरुष को अपने रतिस्थान में लाने की लालच से उत्तम २ वस्त्र, भूषणादिक धारण कर सायंकाल अपने दर्वाजे पर बैठी थी और आये हुए पुरुष के चले जाने पर "अभी और कोई विशेष धन देने वाला धनी मनुष्य मेरे पास आवेगा" इस दुष्ट आशा से बैठी थी। कभी भीतर जाय कभी बाहर आकर दरवाजे पर बैठे, इस प्रकार आशा ही आशा में उसे नींद भी न आई; धन की लालच में इसे रात भर नींद न आयी इससे उसका मुँह सूख गया। निराश होकर "अब यह काम बुरा है" इस प्रकार निराश होने से उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और देहबन्धन से छूटने के लिये इस प्रकार गाने लगी—अहो! मूर्खता

के कारण मैं मन को न जीत कर तुच्छ पुरुषों से काम की इच्छा रखती हूँ। ये परोक्ष अंतर्यामी परमेश्वर जो कि निरंतर पास में रहते हैं और धन के तथा आनन्द के दाता हैं, उनको छोड़कर मैं कामना को न देने वाले पुरुष की इच्छा रखती हूँ। अहो! मैं स्त्री-लम्पट, लोभी और शोचनीय दशावाले पुरुषों के साथ रति की इच्छा रखती हूँ। पुरुष का शरीर हाड़, मांस, मल, मूत्र से भरा हुआ और चमड़े से मढ़ा हुआ है; उसकी मैं उपासना करती हूँ—यह बड़ी भारी मूर्खता की बात है। महा ज्ञानी विदेह के नगर भर में मैं एक ही मूढ़ बुद्धिवाली हूँ तथा दुष्टा हूँ, क्योंकि स्वरूप देनेवाले इन अविनाशी अन्तर्यामी ईश्वर को छोड़कर दूसरे भोग की इच्छा करती हूँ; ईश्वर ही प्राणियों के परम मित्र और प्रिय आत्मरूप हैं।

इस लोक में तथा परलोक में ईश्वर के सिवाय और कोई सेव्य नहीं है। पूर्वकाल के सुकर्म का फल है कि मुझ को इस दुष्कर्म से हटा कर वह वैराग्य की ओर खींच लाया है। अब मैं सब दुष्ट आशाओं को छोड़ कर केवल ईश्वर ही की शरण लेती हूँ। उस के बिना कौन इस संसार के विषयों में से अलगाकर सद्गति दे सकता है? इस प्रकार निश्चय कर पिंगला वेश्या विषय वासना को छोड़ और शान्ति धारण कर सो गयी। इस का सारांश यह हुआ कि आशा का रखना ही बड़ा भारी दुःख है। आशा का त्याग करना ही महा सुख है, जिस प्रकार पिंगला ने जब विषय या धन की आशा छोड़ दी तब ही उसे नींद आयी।

१६ चील--अपनी चोंच में मांस लेकर जा रही थी; इतने में उसे किसी दूसरे बलवान् पक्षी ने देखा, तब मांस छीन लेने के लिये वह उसे मारने लगा। जब उस चील ने मांस छोड़ दिया, तब उसे शान्ति मिली इस से यह शिक्षा प्राप्त हुई कि जो २ अत्यन्त प्रिय वस्तु हैं उनका परिग्रह करना ही दुःखदायी है। यह विचार कर जो मनुष्य परिग्रह का त्याग करता है वही सुखी होता है।

२० बालक--बालक के लिये जिस प्रकार मान या अपमान कोई वस्तु नहीं है, और गृहस्थ अर्थात् बाल बच्चे-वालों को जो २ चिन्ताएँ होती हैं उनमें से भी उस को कोई चिन्ता बाधा नहीं करती; और कामादिक के वश में न हो कर अकेला विरक्त के समान प्रसन्न रहता है, वैसे ही योगी पुरुष को भी चाहिये।

२१ कुमारी कन्या--एक समय अपने घर में अकेली थी। उस समय उसके यहाँ पाहुन आये। उनके लिये वह कन्या छिप कर एकान्त मक़ान में धान कूटने लगी। वहाँ उसके हाथ की चूड़ियाँ बजने लगीं। तब उसने एक २ करके सब चूड़ियाँ निकाल दीं, केवल प्रत्येक हाथ में एक एक चूड़ी रहने दी, तब चूड़ियों का चटकना बन्द हुआ। इससे यह शिक्षा मिली कि योगी पुरुष को भी अकेला रह कर ईश्वर का भजन करने से कोई खटराग नहीं होता।

२२ बाण बनानेवाला--बाण बनाने में इतना लीन था

कि उसके पास से होकर गाजे बाजे के साथ राजा का सवारी निकल गयी, उसे कुछ मालूम नहीं हुआ। वैसे ही योगी मनुष्य को भी संपूर्ण इन्द्रियों को वशमें कर एकाग्र चित्त हो ईश्वर का ही स्मरण करना चाहिये।

२३ सर्प--जिस तरह अकेला घूमता है, अपने रहने के लिये कोई खास स्थान नहीं रखता, सचेत रहता है, एकांत में बसता है, उसकी गति से न तो वह विषधर ही मालूम पड़ता है और न विष रहित ही, किसी को अपने साथ नहीं रखता, और अल्प भाषण करता है; वैसे ही योगी को भी अकेला रहना, अपना निवास किसी एक स्थान में नहीं रखना, सचेत रहना, किसी प्रकार भी दूसरे को अपनी क्रिया न मालूम होने देना चाहिये। अपने साथ किसी को नहीं रखना और थोड़ा बोलना चाहिये। और सर्प जिस प्रकार अपने रहने के लिये कोई बिल नहीं बनाकर दूसरे के बिलों में सुख से रहता है, उसी प्रकार योगी को भी अपने लिये गृह नहीं बनाना चाहिये, और दूसरे लोगों के बनाये स्थानादिक में रह कर काल व्यतीत करना चाहिये; क्योंकि घर का आरंभ करना ही बहुत दुःखदायी होता है और वह अनित्य होने से निष्फल है।

२४ मकड़ी--अपने हृदय से निकली लार को मुँह में बढ़ाती है; और उससे मनोरंजन कर के पुनः उसे निगल

जाती है। इसके लिये किसी दूसरे साधन की जरूरत नहीं पड़ती। इसी प्रकार ईश्वर भी अपने से जगत् की सृष्टि करता है और उस में विहार कर पुनः अपने ही में लीन कर लेता है। इस कार्य में दूसरे साधन की उसे अपेक्षा नहीं रहती—यह शिक्षा उन्हों ने मकड़ी से ली।

भ्रमरी जब किसी कीड़े को पकड़ती है तब वह भय से भ्रमरी के ध्यान में लीन हो जाता है और इसी का स्वरूप बन जाता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्नेह, द्वेष तथा भय से जिन वस्तुओं में अपने मन को एकाग्र करती है उन वस्तुओं का रूप वह स्वयं बन जाती है। जब कीड़ा भ्रमरी के भय से भ्रमरी बन जाता है तब मनुष्य ध्यान के द्वारा ईश्वर का रूप बन जाय, इसमें आश्चर्य क्या है?

गुरु दत्तात्रेय का यही शिक्षा का ढंग है। गुरु दत्तात्रेय का एक सम्प्रदाय भी प्रचलित है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी दक्षिण में बहुत हैं।

—योगिन्द्र

देवगुरु बृहस्पति।

बृहस्पति देवगुरु के नाम से प्रसिद्ध हैं। देवराज इन्द्र इन के शिष्य हैं। इन्द्र के दो जन्म हुए थे—पहला जन्म स्वायम्भुव मन्वन्तर में हुआ था। उस समय इनके पिता का

नाम अंगिरा ऋषि और श्रद्धा इनकी माता का नाम था। इन के दो भाई थे–उतथ्य और सम्पवर्य; इनकी चार बहनें थीं। दूसरा जन्म वैवस्वत मन्वन्तर में हुआ था। इस जन्म में इन के पिता का नाम अंगिरा ऋषि और माता का नाम स्वरूपा था। इन के आठ भाई थे। शुभा और तारा नामक दो स्त्रियाँ थीं। शुभा से ७ कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं, तारा से कच और विश्वजित् आदि ७ लड़के तथा एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। देवर्षि शस्त्र और शास्त्र विद्याओं में निपुन थे। ये तेजस्वी, बुद्धिमान्, सुन्दर, उत्साही, विद्वान् और दाता थे। सांसारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार की नीतियों के उत्कट ज्ञाता थे, विद्याभ्यासी अनेक शिष्य इनके पास सदा रहते थे।

देवता और दैत्य दोनों का परस्पर विरोध प्रसिद्ध है। देवता तरह तरह से दैत्यों को दुःख पहुँचाने के लिए सदा उद्योग करते रहते थे, देवताओं के गुरु बृहस्पति और दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य थे। शुक्र अपने शिष्यों की सहायता करते थे और बृहस्पति अपने शिष्यों की। इसी कारण इन लोगों में सदा लाग डाँट रहा करती थी। शुक्र ने शुक्रनीति नामक ग्रन्थ बनाया था और बृहस्पति ने बृहस्पति स्मृति। बृहस्पति की नीतिकारों में बड़ी प्रतिष्ठा है। देवताओं के जितने कठिन २ काम हुए हैं इन सब में बृहस्पति का सदा हाथ रहा करता था। जब २ देवताओं पर दुःख आया, जब जब देवगण दानवों के भय से व्याकुल हुए, तब तब बृहस्पति ने उनकी सहायता की। बृहस्पति ने उन्हें मन्त्र बतलाया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के यहाँ जब जब देवता गण अपनी दुःखगाथा सुनाने गये तब तब उनके साथ बृहस्पति गये। बृहस्पति की जीवनी

लिखना देवराज्य का एक प्रकार का छोटा मोटा इतिहास लिखना है। इन छोटी छोटी जीवनिया के संग्रह में वृहस्पति की जीवनी हम क्या दे सकते हैं। फिर भी इनके विषय में एक प्रसिद्ध घटना का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

कहा जाता है कि एक वार वृहस्पति देवताओं से अप्रसन्न हो गये और उन्हों ने नास्तिक मत का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उनके द्वारा प्रचारित नास्तिक मत चार्वाक सिद्धान्त के नाम से प्रचलित है। इस विषय की यह कथा प्रसिद्ध है। देवता और असुरों की पारस्परिक शत्रुता प्रसिद्ध है। असुर कैलाशवासी शिव के भक्त थे, और शिव के बनाये तन्त्र ग्रन्थों के अनुसार आचरण करते थे। एक वार असुर त्रिविष्टप में आये। कुछ लोग वर्तमान तिब्बत को त्रिविष्टप कहते हैं। वहाँ से वे कैलाश पर शिवजी के पास गये। बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ उन लोगों ने शिव जी की पूजा की। असुरों की आराधना से शिव जी प्रसन्न हुए। शिव जी ने असुरों से वर माँगने के लिए कहा—असुरों ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज! देवताओं के अत्याचारों के कारण हम लोग बहुत दुःखी हैं। देवताओं का शिल्पी विश्वकर्म्मा अनेक विमान बना कर उन्हें देता है और वे विमान आकाश में उड़ने वाले होते हैं। देवगण उन विमानों पर चढ़ कर आकाश में उड़ा करते हैं और असुरों का विनाश करते हैं, अब देवताओं के इस अत्याचार से रक्षित होने का त्रिलोक में कोई भी स्थान हम लोगों के लिए नहीं बचा है। अतएव, हमलोग अपनी रक्षा के लिए आपसे प्रार्थना करते हैं। सोना, चाँदी और लोहा के तीन

आकाशगामी नगर यदि हम लोगों के लिए बना दिये जायें, तो देवताओं के अत्याचार से हम लोगों की रक्षा हो सकती है। इस काम के करने की शक्ति आप के अतिरिक्त किसी दूसरे में नहीं है। अतएव हम लोग प्रार्थना करते हैं कि आप इस त्रिपुर का निर्माण करने की कृपा करें। यही वरदान हम लोग चाहते हैं। असुरों की प्रार्थना शिव ने स्वीकार की और असुरों के शिल्पी मायासुर को त्रिपुर निर्माण करने की आज्ञा दी। वह त्रिपुर आकाश में उड़ सकता था और कोई भी उसे तोड़ नहीं सकता। त्रिपुर पा कर असुर बहुत प्रसन्न हुए, वे नये बल से बलवान् हो कर देवताओं को ललकारने लगे। त्रिपुर अकाश में घुमा कर देवताओं के कार्यों में विघ्न डालने लगे। अत्याचार का राज्य हुआ। देवता और उनके पक्षपाती बुरी तरह सताये जाने लगे। इन्द्र व्याकुल हो गये, वे विष्णु के पास गये, दोनों ने मिल कर यह निश्चय किया कि ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें शिव जी असुरों पर अप्रसन्न हो जायँ, शिव जी की कृपा से ही ये बलवान् हुए हैं और अत्याचार कर रहे हैं। यदि हम लोग ऐसा प्रयत्न करें और इस प्रयत्न में हम लोगों को सफलता मिले तो लाभ हो। यदि असुर इस तरह समझाये जायँ कि वे वेदों की निन्दा करने लगें और ईश्वर से विमुख हो जाय तो अवश्य ही शिव जी उन पर क्रोध करेंगे और उस क्रोध से असुरों का विनाश हो जायगा। इस प्रकार निश्चय कर देव गुरु बृहस्पति ने नास्तिक शास्त्र बनाया, जिस में वैदिक धर्म का उपहास किया गया और ईश्वरवाद का खण्डन किया गया था। उस शास्त्र के तैयार होने पर देवतागण असुरों में उसका प्रचार करने के

लिए घूमने लगे। देवताओं ने असुरों की सभा की, और कहने लगे—

"आत्मा क्या है? वेदवादी ब्राह्मणों ने स्वार्थसाधन के लिए आत्मा के विषय में बहुत भ्रम फैला रखा है। वे आत्मा तत्त्व को बड़ा ही गूढ़ बतलाते हैं और बड़े भाग्य से आत्म-ज्ञान होना कहते हैं, पर यह बात सच नहीं। आत्मा प्रत्यक्ष है। उसके विषय में अधिक ढूँढ़ ढाँढ़ करना समय नष्ट करना है। यह शरीर ही आत्मा है। अन्न रूपी ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति होती है, इस कारण देह आत्मा है। दयालु मनुष्य को चाहिए कि आत्म रूपी देहका नाश न होने दे। इस को किसी प्रकार कष्ट न दे। जो देह रूपी आत्मा को कष्ट देता है वह स्वयं कष्ट पाता है। वेदों में पुत्र को आत्मरूप बतलाया गया है। इससे देह ही का आत्मा होना सिद्ध होता है। देह का अन्न-मय कोष ही वेद के मत से ब्रह्म है। इस देह रूपी आत्मा की हिंसा न करनी चाहिए। वेद और तन्त्रों में जो जीवहिंसा की बात लिखी हुई है, वह क्रूर और नीच पुरुषों की कल्पना मात्र है। राम! राम! वे कितने दुष्ट हैं जो हिंसा से पुण्य का होना बतलाते हैं। अजी, यदि हिंसा से पुण्य हो तो जहर से अमृत होना चाहिए। कहते हैं कि यज्ञ में जिस पशु का बलिदान होता है उसको स्वर्ग मिलता है, तो यजमान अपने पिता का ही बलिदान क्यों नहीं करता। अप्रत्यक्ष देवता और पितरों की तृप्ति के लिए प्रत्यक्ष देह रूपी आत्मा का हनन करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है! श्राद्ध करना भी व्यर्थ है। श्राद्ध में दी हुई बलि क्या प्रेत को थोड़े ही मिलती है। कोठे पर बैठा हुआ आदमी अपने लिए नीचे रखा

हुआ अन्न नहीं खा सकता, तो एक अदृश्य प्रेत श्राद्ध के पिंड से तृप्त हो जायगा इस बात पर कौन बुद्धिमान् विश्वास कर सकता है? केवल ब्राह्मणों को मारने से ही ब्रह्महत्या नहीं होती, किन्तु समस्त शरीर ब्रह्म है, उसकी हत्या करना ही ब्रह्म-हत्या है।"

इस प्रकार के उपदेश सुन कर असुर बहुत ही क्रोधित और दुःखित हुए। एक असुर ने मरा हुआ कुत्ता ला कर चार्वाक सन्यासी के माथे पर पटक दिया और कहा—लो यह तुम्हारे ब्रह्म हैं। इस से चार्वाक यति को बड़ा क्रोध आया और बोले—अरे दुष्ट असुर, तूने यह अपवित्र शरीर क्यों छू दिया। असुर ने कहा—तू तो देह ही को ब्रह्म मानता है, फिर यह देह अपवित्र कैसे हुई? यह तो ब्रह्म है न? चार्वाक ने कहा—मृतक देह ब्रह्म नहीं है। यह सुन कर दूसरा असुर दौड़ा दौड़ा गया और एक कुत्ते का बच्चा ले आया, चार्वाक का मुँह उस कुत्ते के बच्चे के मुँह में लगा दिया, इस से चार्वाक को बड़ा क्रोध आया। उसने कहा—तुम बड़े दुष्ट हो। तुमने अपवित्र कुत्ते का मुँह हमारे मुँह में क्यों सटाया? असुर बोला—अजी, कुत्ते का मुँह अपवित्र कैसे? तुम तो जीवित शरीर को प्रभु मानते हो। ब्रह्म भी कहीं अपवित्र होता है? दूसरे चार्वाक ने कहा—शरीर में प्राण वायु है, जिसे प्राणमय कोष कहते हैं, वही ब्रह्म है। शरीर तो स्थूल है, यह ब्रह्म नहीं है, अतएव अपवित्र है। तब एक असुर ने एक चार्वाक के मुँह में अपने मुँह की फूँक मारी इस से भी चार्वाक अप्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—तुम लोग बड़े उद्धत हो। तुम हमारे मुँह पर अपनी अपवित्र स्वाँस को

क्यों छोड़ते हो? असुर ने कहा, आप तो प्राण वायु को ब्रह्म मानते हैं? ब्रह्म अपवित्र कैसे होगा?

चार्वाक ने कहा—प्राणमय कोष ब्रह्म नहीं है, मनोमय कोष ब्रह्म है, वह पवित्र है।

असुर ने कहा—अच्छा, जब तुम सोओगे तो मृतक समझ कर तुमको जला दूँगा, क्योंकि सुप्तावस्था में मन का लय हो जाता है।

चार्वाक ने कहा—आनन्दमय कोष ब्रह्म है। शयनावस्था में भी आनन्द रहता है। क्योंकि सो कर उठने पर हम आनन्द से सोये ऐसा अनुभव होता है।

असुर ने यह बात मान ली। ऊपर कहे हुए पाँच मत पाँच चार्वाक यतियों ने कहे थे। उन के ग्रन्थों में इन मतों का उल्लेख पाया जाता है। चार्वाक मत का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है— पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्व चार्वाक मानते हैं। जगत्कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। शरीर में जीव कोई भिन्न वस्तु नहीं है। शरीर की चेतनता चारों तत्वों के संमिश्रण से होती है। केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बृहस्पति ने चार्वाक मुनि का रूप धर कर इस प्रकार के मोहकारी मत का प्रचार किया और असुरों को नास्तिक बनाया। चार्वाक मुनि के उपदेश की आँधी से असुरों के हृदय की ईश्वरभक्तिलता उखड़ गई। असुर वेदों और वैदिक कर्मों की निन्दा करने लगे। वे जीवों पर तो दया करने लगे, पर ईश्वरशक्ति का बेतरह खण्डन करने लगे।

देवताओं का काम हो गया। बृहस्पति की विद्वत्ता ने देवताओं की कार्यसिद्ध के लिए अज्ञान का प्रचार किया। अपना काम कर के साथियों के साथ बृहस्पति अपने स्थान को चले गये, पर इनका बोया विष बीज फैलता गया, जिस के फल स्वरुप वे सब के सब नास्तिक हो गये और शिव के क्रोध वह्नि में पड़ कर भस्म हो गये।

इसी प्रकार देवगुरु बृहस्पतिजी देवताओं के काम करते थे। ऐसा कोई कठिन प्रसंग देवताओं पर नहीं आया है जिस में बृहस्पति ने इनकी सहायता न की हो। उन सब कार्यों का परिचय देना हमारे लिए कठिन है। बृहस्पति देवताओं के रक्षक थे। वे देवताओं के कल्याण के लिये कर्म-अकर्म सभी कर सकते थे। इस कारण देवता भी इन का बहुत सम्मान करते थे। इन्द्र एक प्रकार से बृहस्पति की आज्ञा के वशवर्ती थे।

बृहस्पति नाम का एक तारा भी आकाश में दिखाई पड़ता है। यह सप्तर्षि-मण्डल का एक तारा है।

बृहस्पति विद्या के अगाध समुद्र और वक्ता समझे जाते हैं।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य

इन के पिता का नाम भृगुऋषि था और माता का नाम प्रलोभा था। च्यवन, शुचि आदि और भी शुक्राचार्य के भाई

थे। शुक्राचार्य नीतिशास्त्रवेत्ता, धुरन्धर, राज्यकार्यपटु, मन्त्रशास्त्रज्ञ और आचार्य थे। शुक्राचार्य को दैत्यगुरु भी कहते हैं, क्योंकि ये दैत्यों के गुरु थे। दैत्य, दानव आदि उन के उपदेश से चलते थे, दैत्य इनके बिलकुल अधीन थे। इस का एक कारण यह भी था कि इनके पास मृतसञ्जीवनी विद्या थी, जिस के प्रताप से ये मृत मनुष्यों को जीवित कर देते थे। देवता और दानवों से जो युद्ध होता था और उस युद्ध में जो दानव मारे जाते थे, उन्हें शुक्रमहाराज अपनी विद्या के प्रताप से जिला दिया करते थे, इस से दैत्यों का जन-बल सदा बना रहता था, वह क्षीण होने नहीं पाता था। जिस प्रकार देवता बृहस्पति को अपना गुरु मानते हैं और बृहस्पति की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, उसी प्रकार दैत्य भी शुक्राचार्य को अपना गुरु मानते हैं और उन के कहने के अनुसार चलते हैं। इस सम्बन्ध से इस देव-दानव युद्ध का परिणाम शुक्र और बृहस्पति को भोगना पड़ता था। ये दोनों सदा एक दूसरे के प्रयत्न को असफल करने के लिए प्रयत्न करते थे। देव विजय का अर्थ था बृहस्पति की नीतिकुशलता और इसी प्रकार दैत्य विजय का अर्थ होता है शुक्र की नीतिकुशलता। इस कारण इन दोनों में आपस में सदा लाग डाँट रहा करती थी।

एक बार देवताओं के पराक्रम से दानव व्याकुल हो गये, तब उन लोगों ने शुक्राचार्य से कहा कि महाराज, आप के रहते हमलोगों की ऐसी बुरी दशा हो रही है! शुक्राचार्य ने बहुत सोचा विचारा, पर कोई बुद्धि काम न आयी, तब उन्होंने मेघों को खींचकर अपने वश में कर लिया, और चार वर्ष

तक उन्हें कैद रखा। ऐसा करने का शुक्र का तात्पर्य यह था कि मेघों के कैद करने से वृष्टि न होगी, अन्न न होगा, अन्न के अभाव में याग-यज्ञ आदि बन्द हो जायँगे, याग-यज्ञों के बन्द होने से देवताओं को भोजन न मिलसकेगा, भोजन न मिलने से वे बलहीन हो जायँगे, फिर तो अपनी विजय निश्चय ही है। देखा आपने ? शुक्र जी ने कितनी दूर की बात सोची थी ? आखिर ठहरे दैत्य गुरु ! पर चार वर्ष के बीतने पर इन्द्र ने शुक्र से युद्ध किया और उन्हें हराकर मेघों को छुड़ा लिया, शुक्र जी को चालाकी एक न चली।

शुक्रनीति नाम की एक संस्कृत पुस्तक नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध है। वह शुक्र की बनायी पुस्तक है। शुक्र की नीति का उस में उल्लेख है। कहा जाता है कि शुक्र ने अपने शिष्यों के कल्याण के लिये इस पुस्तक का निर्माण किया था। शुक्र के बाद भी शिष्यों को कष्ट न हो, बुद्धि और युक्ति से वे अपनी रक्षा कर सकें, इस लिये उन्होंने इस पुस्तक का निर्माण किया था।

शुक्राचार्य की स्त्री का नाम जयन्ती था। जयन्ती प्रथम पुरन्दर इन्द्र की कन्या थी। जयन्ती के गर्भ से देवयानी नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई थी। शुक्राचार्य ने शतपर्वा नाम की एक दूसरी स्त्री से भी विवाह किया था, और उस से चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनके नाम त्वाष्ट्रधर, अग्नि, रौद्र और कर्पी थे। यह बात लिखी जा चुकी है कि शुक्र मृतसंजीवनी विद्या जानते थे और उस के बल से मरे हुए दैत्यों को वे जीवित कर लिया करते थे। यह विद्या देवताओं के पास नहीं थी। इस लिये देवताओं ने वृहस्पति से कहा कि महा-

राज ! ऐसा कोई उपाय कीजिये जिस से हमलोगों को मृतसं-
जीवनी विद्या का ज्ञान हो जाय। वृहस्पति ने अपने पुत्र
कच को शुक्राचार्य के यहाँ विद्या पढ़ने के लिये भेजा और
मृतसंजीवनी विद्या सीखने की भी आज्ञा दी। कच शुक्राचार्य
के पास आये। शुक्राचार्य इस से बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने
इस बात में अपना गौरव समझा, बड़े प्रेम से शुक्राचार्य कच
को पढ़ाने लगे। शुक्राचर्य की कन्या देवयानी भी कच को
देख कर बहुत प्रसन्न हुई, वह कच के साथ खेला करती थी।
दैत्यों को यह बात मालूम हो गयी कि वृहस्पति का बेटा कच
शुक्राचार्य के पास विद्या पढ़ने आया है, शुक्र भी प्रसन्नता-
पूर्वक उसे पढ़ा रहे हैं। इस से दैत्यों को इस बात का निश्चय
हो गया कि अवश्य ही शुक्र इसे मृतसंजीवनी विद्या सिखा
देंगे, जिस से देवताओं का बल और बढ़ जायगा। दैत्यों ने
कच को मार डालने का निश्चय किया। दैत्य अपने निश्चय
को फलवान् करने का सुयोग ढूँढ़ने लगे। एक दिन कच
गौ चराने वन में गया था। दैत्यों को यह अच्छा अवसर
मिला। उन लोगों ने कच को मार डाला। सन्ध्या हो गयी, गौ
लौट कर चली आयी, पर कच नहीं आया। देवयानी चारों
ओर कच को ढ़ूँढ़ने लगी, पर कच नहीं मिला। देवयानी के
मन में सन्देह हुआ, उन्हों ने अपने पिता से कहा, कच अभी
नहीं आया मालूम पड़ता है, दैत्यों ने उसे मार डाला है। इधर
दैत्य उससे द्वेष करने लगे थे। कच का न लौटना सुन कर
शुक्राचार्य भी चिन्तित हुए, उन्होंने भी उस का पता लगाया
शुक्राचार्य को जब इस बात का निश्चय हो गया कि दैत्यों ने
कच को मार डाला है, तब इन्होंने अपनी विद्या के प्रभाव से

उसे जिला दिया और उसे मृतसंजीवनी विद्या भी सिखा दी। इस प्रकार कई वर्षों तक रह कर कच ने विद्याध्ययन किया। शुक्र ने जब देखा कि कच विद्या में प्रवीण हो गया तब उन्होंने उसे घर जाने की आज्ञा दी। कच अपने घर जाने लगे। जाने के समय उन्हों ने देवयानी से जाने की आज्ञा माँगी। देवयानी ने अपना ब्याह कर लेनें की अपनी इच्छा प्रकाशित की। कच ने कहा, देवयानी, तुम्हारे साथ रहने से हम को बड़ा आनन्द हुआ है, आगे भी यदि हम लोग साथ रहें तो यह कम प्रसन्नता की बात नहीं है, पर ऐसा संयोग नहीं है, तुम ने जो इच्छा प्रकाशित की है, वह पूरी नहीं हो सकती, क्योंकि तुम हमारी गुरुपुत्री हो और इस तरह हमारी बहिन होती हो, अतएव हमारा तुम्हारा ब्याह कैसे हो सकता है। कच के इस प्रकार अस्वीकार करने से देवयानी को बड़ा दुःख हुआ। देवयानी ने कहा, तुमने हमारी प्रार्थना न मानी, इस लिये मैं शाप देती हूँ कि तुम ने यहाँ जो विद्या पढ़ी है वह निष्फल हो जाय। इस पर कच को भी क्रोध आया और उन्हों ने कहा—बिना अपराध शाप देकर तुम ने मेरी विद्या निष्फल की है, इस कारण मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि कोई भी ऋषिपुत्र तुम से ब्याह न करेगा। कच अपने घर चले आये। देवयानी और कच के कलह में विशेष हानि देवयानी ही को हुई। कच की विद्या निष्फल हुई, पर उन्होंने जो विद्या सीखी थी वह औरों को पढ़ा दी और उन लोगों ने उस का उचित उपयोग किया।

—o—

शुक्राचार्य कर्मकाण्ड के भी निपुण ज्ञाता थे। इन्होंने राजा बलि को निन्नानवे यज्ञ कराये थे। सौ यज्ञ करने वाला मनुष्य इन्द्रपद पाने का अधिकारी हो जाता है। बलि इसी इच्छा से प्रेरित हो कर यह यज्ञ कर रहा था। निन्नानवे पूरे हो चुके थे, सौवाँ प्रारम्भ था। इस बात की खबर पा कर इन्द्र बहुत घबड़ाये। इन्द्र की माता अदिति भी बहुत दुःखी हुईं। अदिति ने अपने पुत्र का इन्द्रपद बना रहने के लिये तपस्या की। भगवान् विष्णु ने प्रसन्न हो कर वर दिया कि हम आप के गर्भ से वामनरूप में अवतार लेंगे और आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे। वैसा ही हुआ। वामन रूपी भगवान् बलि के यज्ञ में पहुँचे। शुक्र वहीं थे; उन्हों ने कहा, ये वामन देवता, देवों की ओर से तुम्हें छलने के लिए आ रहे हैं, बिना इन का स्पष्ट अभिप्राय जाने इन को कोई वचन न देना और पृथ्वी यदि दान में माँगें तो कह देना कि पृथ्वी में देवता, ब्राह्मण आदि अन्य कइयों के भाग हैं, इस लिए मैं अकेले पृथ्वी दान करने का अधिकारी नहीं। पर बलि ने शुक्र की कोई बात न मानी। उस ने कहा, जब साक्षात् प्रभु ही माँगने आ रहे हैं तब ऐसी कौन सी वस्तु है जो देने लायक नहीं। उस के भाग्य धन्य हैं जिस के द्वारे प्रभु माँगने के लिए आवें। शुक्र चुप हो रहे, वामन ब्राह्मण रूप में बलि के सामने आ कर खड़े हो गये और उन्हों ने तीन पैर पृथिवी दान में माँगी। बलि दान देने के लिए सङ्कल्प करने लगा, झारी से जल लेने लगा, पर शुक्र उस झारी की टोंटी में पहले से घुस गये थे, इस से पानी न निकला। शुक्र की चतुराई वामन की समझ आ गयी, भीतर भीतर उन्हें क्रोध भी आया कि यह क्यों

हमारे काम में विघ्न डालने के लिए उतारू हुआ है। अतएव एक कुशा लेकर वामन ने झारी की टोंटी साफ कर दी, जिस से शुक्र की एक आँख फूट गयी, तभी से शुक्र एकाक्ष हो गये। वामन जी ने अपना काम पूरा किया, बलि राजा को पाताल का राज्य दिया।

दैत्य-दानवों के उपकार के लिए शुक्र ने अपनी समस्त शक्ति खर्च कर दी, पर दैत्य, दानव थे उजड्ड और मूर्ख, इस से वे शुक्राचार्य के उपदेशों से पूरा पूरा लाभ न उठा सके। शुक्र नामक एक चमकीला तारा अब भी आकाश में प्रकाशित होता है, इस तारा से आस्तिक हिन्दुओं के अनेक मङ्गल कृत्यों का सम्बन्ध है।

महर्षि अगस्त्य।

वैवस्वत मन्वन्तर में मित्रावरुण ऋषि के यहा इनका जन्म हुआ था। वे बड़े ही प्रतापशाली, तेजस्वी और प्रसिद्ध ऋषि थे। उनके जन्म के संबन्ध में विलक्षण कथा पुराणों में लिखी है। अगस्त्य के पिता मित्रावरुण ऋषि थे, यह बात तो ऊपर लिखी ही जा चुकी है। मित्रावरुण का आश्रम समुद्रतीर पर था। समुद्र की लहरियों से किसी दिन ऋषि का कमण्डलु, किसी दिन लँगोटी, किसी दिन कोई और वस्तु समुद्र में चली जाती थी, इस से ऋषि को बड़ा कष्ट था। अपनी आवश्यक वस्तुओं के नष्ट होने के कारण ऋषि का चित्त चञ्चल हो

जाता था, जिस से इन्हें अपने नित्य कर्म में बाधा होती थी, जिससे इनके जप, तप की श्रृङ्खला बिगड़ जाती थी। ऋषि ने समुद्र की प्रार्थना की, ऋषि ने समुद्र को अपने दुःख बतलाये, पर समुद्र ने ऋषि की बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। अनेक प्रयत्न करने पर भी जब कोई फल न निकला तब ऋषि को क्रोध हुआ, ऋषि ने यह निश्चय किया कि इस जड़ से सीधे ढंग से काम न निकलेगा। ऋषि ने निश्चय किया कि किसी प्रकार ऐसा पुत्र उत्पन्न करना चाहिये जो इस उद्दण्डता का उचित उत्तर समुद्र को दे। इसी इच्छा से प्रेरित होकर पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करने के लिए उन्हों ने तपस्या की। तपस्या की पूर्ति पर अपना तेज एक घड़े में रख कर ऋषि ने किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया। वह घड़ा ऋषि ने स्वयं किसी विशेष रीति से तय्यार किया था। उचित समय पर वह घड़ा फटा और उस में से एक बालक निकला। यज्ञोपवीत और कटि सूत्र से वह बालक शोभित हो रहा था। उस के मुख मण्डल पर तेजस्विता, पराक्रम और बुद्धि-बल के चिन्ह प्रकाशित हो रहे थे। उस बालक का नाम अगस्त्य पड़ा। वह बालक कुम्भ में से उत्पन्न हुआ था, इस कारण उसे कुम्भज भी कहते हैं।

अगस्त्य पिता की आज्ञा से काशी पढ़ने आये, योग्य गुरुओं से इन्हों ने विद्याध्ययन किया। विद्याध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचारी रह कर तपस्या करने की अपनी इच्छा प्रकट की, पर पिता की इच्छा ऐसी न थी, पिता चाहते थे कि अगस्त्य ब्याह करे, जिस से वंश की रक्षा हो। अगस्त्य ने पिता की इच्छा के अनुसार ही काम करना निश्चय किया।

अगस्त्य अपना ब्याह करने की इच्छा से कन्या ढूँढ़ने के लिए निकले। उन्होंने बहुत खोजा, पर उनके मनोनुकूल सुन्दरी कन्या न मिली। उसी समय अगस्त्य को मालूम हुआ कि विदर्भ देश के राजा पुत्र के लिए तपस्या कर रहे हैं। अगस्त्य ने अपने तपोबल से ऐसी रचना रची कि जिस से महारानी के गर्भ में कन्या आयी और महर्षि ने उस कन्या पर अपना अभीप्सित सौन्दर्य भी प्रतिबिम्बित कर दिया। समय पर महारानी के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई, राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने तपस्या की थी पुत्र होने के लिए, पर हुई कन्या। उस कन्या का नाम लोपामुद्रा रखा गया, क्योंकि पुत्र की मुद्रा (चिन्ह) के लोप होने से वह उत्पन्न हुई थी। जब यह कन्या बड़ी हुई तब राजा ने इस के ब्याह के लिए स्वयंवर सभा बनाने की इच्छा की, वे स्वयंवर की तैयारी करने लगे। इसी समय अगस्त्य राजा के यहाँ पहुँचे और उन्हों ने कन्या अपने लिए माँगी, अगस्त्य की प्रार्थना सुन कर राजा चुप हो गये। विचार कर उत्तर देने के लिए राजा ने अगस्त्य से कहा और उन के ठहरने आदि का भी प्रबन्ध कर दिया। राजा ने इस विषय में लोपामुद्रा का मत पुछवाया, लोपामुद्रा ने ऋषि के साथ ब्याह करने की अपनी इच्छा प्रकट की। कन्या का अभिप्राय मालूम होने पर राजा ने अगस्त्य के साथ उस को ब्याह दिया; दोनों काशी आये। लोपामुद्रा योग्यपति की योग्य स्त्री थी। वह बहुत बड़ी पण्डिता और ज्ञानी थी। उस ने ऋग्वेद के कई सूक्त बनाये हैं।

अगस्त्य तत्त्ववेत्ता थे, वीर थे। धनुर्वेद के बड़े भारी ज्ञाता थे। ये धनुष बाण साथ रखकर सदा देशाटन किया करते थे।

जो राजा धर्म विरुद्ध राज्य करता था, प्रजा को पीड़ा पहुँ-चाता था, वेदों की निन्दा करता था, गौ, ब्राह्मण की रक्षा में ध्यान न देता था, उस पर अगस्त्य जी का क्रोध प्रकाशित होता था। अगस्त्य जी उसे समझाते बुझाते थे, रास्ते पर आजाने के लिये सावधान करते थे। यदि अगस्त्य जी की बात मानी गई, अधर्मी राजाओंने अधर्म का मार्ग छोड़ा और वे धर्म के मार्ग पर आगये तब तो ठीक, नहीं तो अगस्त्य उस पर अपना पराक्रम प्रकाशित करते थे। उस से युद्ध करते थे और बल पूर्वक धर्म के रास्ते आने के लिए उसे विवश करते थे। अगस्त्य का ऐसा व्यवहार न केवल अधर्मी राजाओं के ही प्रति था, किन्तु अगस्त्य मनुष्यों को भी धर्म के रास्ते आने के लिए बलके द्वारा विवश करते थे। डाकुओं, लुटेरों को वे दण्ड देने के लिए सदा उद्यत रहा करते थे। अगस्त्य अपने किसी शौक को पूरा करने के लिए, अपने स्वार्थ की सिद्ध के लिए ऐसा नहीं करते थे, किन्तु धर्म-व्यवस्था के लिए ही उनका ऐसा आचरण था; किसी के द्वारा धर्म की मर्यादा का अपमान होना, उसका भंग किया जाना पसन्द नहीं करते थे, अतएव किसी के धन हरण करनेवाले को, किसी की गौ हरण करनेवाले को, किसी स्त्री का अपमान करनेवाले को वे कभी क्षमा नहीं करते थे।

अगस्त्य ऋषि व्यूह रचना में बड़े दक्ष थे, धनुर्वेद की अन्य क्रियाओं का ज्ञान तो इन को था ही, वह व्यूह रचना के विषय में अद्वितीय पण्डित समझे जाते थे। द्रोणाचार्य और राजा द्रुपद इनके शिष्य थे; उन लोगों ने इन से धनुर्वेद सीखा था। विशेषतः व्यूह रचना का इन लोगों ने अध्ययन

किया था। इसी से अगस्त्य के धनुर्वेद ज्ञान की आगाधता का परिचय मिलता है। शास्त्र और शस्त्र दोनों प्रकार की विद्याओं में ये दत्त थे और आवश्यकता पड़ने पर दोनों का उपयोग करते थे।

अगस्त्य जी ने युवा अवस्था में भ्रमण किया था। तीर्थों में गये थे, जंगलों, नदियों और पर्वतों को देखा था। इससे प्राकृतिक पदार्थों का भी इन का ज्ञान बढ़ गया था। ये अपनी यात्रा में केवल प्राकृतिक पदार्थों का निरीक्षण ही नहीं किया करते थे, किन्तु साथ ही धर्मोपदेश का करना भी एक काम था। अगस्त्य के ये काम उस समय से सब समाजों में बड़े गौरव की दृष्टि से देखे गये थे। देवता ऋषि मुनि राजा प्रजा आदि सभी अगस्त्य जी का बड़ा आदर करते थे। अगस्त्य जी के विषय में उन की बड़ी श्रद्धा थी।

अगस्त्य के लोकोत्तर कार्यों में समुद्रपान की कथा तो प्रसिद्ध ही है। दूसरा इन का लोकोत्तर कार्य है विन्ध्यगिरि का निवारण। एक बार विन्ध्य पर्वत बढ़ने लगा, सूर्य देव के मार्ग रोकने की इच्छा से उस ने बहुत ऊँचा शिर उठाया। विन्ध्य के उस आचरण से लोग हाहाकार करने लगे। देवताओं ने अगस्त्य जी से प्रार्थना की कि आप कृपा कर इस विघ्न को हटाने का कोई उपाय कीजिए। दूसरे किसी से विन्ध्य के दमन के लिये प्रार्थना न कर अगस्त्य जी से ही प्रार्थना की गयी और वे ही इस इस काम के लिए नियुक्त किये गये, इस का एक विशेष कारण था। विन्ध्य अगस्त्य जी का शिष्य था। उस पर गुरु का प्रभाव पड़ेगा, इसी आशा से प्रेरित हो कर देवताओं ने अगस्त्य से विन्ध्यगिरी के दमन की

प्रार्थना की। उस समय अगस्त्य काशी में रहते थे। ये वहाँ से चले, रास्ते में विन्ध्य पर्वत मिला। उस ने गुरु को देख कर उन को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। गुरु ने आशीर्वाद दिया और कहा, बच्चा! इसी तरह तुम तब तक पड़े रहो जब तक मैं लौट कर न आऊँ। विन्ध्य ने गुरु की बात मान ली। अगस्त्य जी दक्षिण दिशा में चले गये और तब से लौटे ही नहीं। अगस्त्य जी ने सोमवार को यह यात्रा की थी। इस कारण काशी में यह बात प्रसिद्ध है कि सोमवार को काशी से जाने पर मनुष्य पुनः काशी लौट कर नहीं आता। इसी से धर्मभीरु आस्तिक जन सोमवार को काशी से यात्रा नहीं करते। काशी से सोमवार की यात्रा अगस्त्य यात्रा के नाम से प्रसिद्ध है। अगस्त्य जी दक्षिण से फिर नहीं लौटे और विन्ध्य भी फिर नहीं उठा। इस प्रकार संसारवासियों का बड़ा भारी भय दूर हुआ।

आतापी, वातापी और इल्वल नाम के राक्षस बड़े ही दुष्ट थे इन लोगों ने अनेक ऋषि मुनि धर्मात्माओं का नाश किया था। इन को कोई ऐसी विद्या मालूम थी कि इन में कोई जल फल आदि का रूप धर लेता था, वही कृत्रिम जल फल आदि ऋषि मुनियों को सौंपा जाता था, ऋषिमुनि उसे खा पी लेते थे। तब इन में का जो बाहर रहता था वह उस का नाम ले कर उसको पुकारता था। जो पेट में चला गया रहता था बाहर की आवाज सुनते ही वह पेट फाड़ कर निकल आता था और जिस के पेट से ये निकल ते थे उस का प्राणान्त हो जाता था। इस रीति से इन लोगों ने अनेक ऋषि मुनियों का नाश किया था। इन के अत्याचारों से उस समय

के ऋषि मुनि सदा भयभीत रहा करते थे। अगस्त्य जी को यह बात मालूम हुई। ये उन असुरों के पास गये। इनके साथ भी उन लोगों ने अपनी पुरानी लीला रची। पर अगस्त्य जी समुद्र पीने वाले थे, इन के पेट में जा कर निकल आना बड़ा कठिन काम था। अगस्त्य जी ने उन राक्षसों को जो फल फूल आदि के रूप में परिणत हो गये थे, खा लिया और पेट पर हाथ फेर कर पचा लिया। चलो, छुट्टी हुई। अब ऋषि मुनियों के प्राण बचे, भय छूटा।

श्रीरामचन्द्र जी बनवास के समय अगस्त्य जी के आश्रम पर गये थे। सुतीक्ष्ण ने उन्हें अगस्त्याश्रम का मार्ग वतलाया था। उस समय अगस्त्य का आश्रम दण्डकारण्य में था। गोदावरी के उत्तर तट पर दण्डकारण्य था। कहते हैं कि दण्डक नाम का विदर्भ एक राजा था। वह राजा बड़ा ही यथेच्छाचारी था, धर्माधर्म का खयाल वह कुछ भी नहीं करता था। इससे भृगु ऋषि अप्रसन्न हुए और उन्होंने राजा का तो नाश करही दिया। साथ ही उस देश के वासियों को और उस देश को भी भस्म कर दिया। तभी से उस भूमि का नाम दण्डकारण्य पड़ा। अगस्त्य जब दक्षिण दिशा में रहने के लिए गये तब इन्होंने अपने आश्रम के लिए दण्डका-रण्य की ही भूमि पसन्द की, पर वह बन बिलकुल सूखा था। वहाँ रहने से जीवन की आवश्यक वस्तुओं का मिलना कठिन था, अतएव अगस्त्य स्वर्ग में गये और वहाँ से अमृत लाकर दण्डकारण्य की भूमि को इन्होंने जीवित किया। अगस्त्य जी के अमृत छींटने से वहाँ की भूमि लहलहा गयी, यह देख अन्य ऋषि मुनियों ने भी वहाँ आश्रम बनाये और अगस्त्य जी

भी आश्रम बना कर रहने लगे। वहीं सीता और लक्ष्मण के साथ रामचन्द्र भी गये थे! रामचन्द्र जी को अगस्त्य ने उपदेश दिये थे और उन्हें पञ्चवटी में आश्रम बना कर रहने की सम्मति दी थी।

अगस्त्य सप्तर्षि-मण्डल के एक सदस्य हैं। एक समय राजा नहुष को संयोगवश इन्द्र का पद मिला। इन्द्र-पद के मिलते ही नहुष उन्मत्त हो गया। अपने सामने वह समस्त संसार को तुच्छ समझने लगा। इन्द्र का पद पाते ही उसने इन्द्राणी का तलब किया। नहुष के इस आचरण को देख कर इन्द्राणी बहुत ही भयभीत और दुःखित हुई। इन्द्राणी ने बृहस्पति को बुलाकर सभी बातें कहीं, अपनी रक्षा का उपाय पूछा। बृहस्पति भी नहुष का उन्माद देख ही चुके थे। उन्हों ने इन्द्राणी से कहा, "आप उनसे कहला दें कि मैं उन के यहाँ न आऊँगी, वे ही स्वयं मेरे यहाँ आवें और पालकी पर चढ़ कर आवें। जिस पालकी पर वह चढ़ कर आवें उसे सप्तर्षि उठा कर ले आवें। इन्द्राणी ने नहुष के यहाँ यह संवाद भेज दिया। नहुष उन्मत्त तो हुआ ही था। उसे कार्याकार्य का कुछ ज्ञान नहीं था, वह अपनी सुध-बुध बिलकुल खो चुका था, वह कामान्ध हो गया था। सप्तर्षियों को उस ने बुलाया और उन से पालकी उठवा कर इन्द्राणी के पास चला। भला इन सप्तर्षियों ने कब पालकी ढोई थी, जो इन को पालकी ढोने का अभ्यास हो? वे धीरे-धीरे किसी प्रकार पालकी लेकर चलने लगे। पर नहुष इन्द्राणी के लिए बहुत व्याकुल था, उसे थोड़ा विलम्ब भी सहा नहीं जाता था। इससे वही बार-बार ऋषियों से चलने के लिए कहता था। वह कहता था,

"सर्प, सर्प" अर्थात् चलो। ऋषिगण उस के अन्याय से दुःखी तो थे ही क्रोध भी उनको आया ही था, पर तपस्या-भंग के भय से वे चुप थे। पर अगस्त्य जी से नहुष का अत्याचार न देखा गया। उन्होंने नहुष को शाप दिया "सर्पो भव" अर्थात् तू साँप हो जा। सत्यवादियों की वाणी कभी असत्य नहीं होती। उन के मुँह से जो निकल जाय वह सत्य ही होता है। उसी समय अपनी सब आशाओं के साथ राजा नहुष सर्प हो गये।

अगस्त्य महर्षि थे, महर्षि में जिन गुणों का होना आवश्यक है, वे सब गुण इन में थे। इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है। महर्षि अगस्त्य ने श्री रामचन्द्र को कई अमोघ अस्त्र-शस्त्र दिये थे। रावणवध कर जब श्री रामचन्द्र अयोध्या लौट आये और राज्य करने लगे तब वहाँ अगस्त्य जी भी अन्य ऋषि-मुनियों के साथ आये। रामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी से कई प्रश्न पूछे थे। अगस्त्य जीने उन प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया था।

देवर्षि नारद।

देवर्षि नारद का परिचय भारतवासियों के लिये नया नहीं है। देवर्षि नारद प्रसिद्ध हैं, पढ़े अनपढ़े सभी लोग देवर्षि नारद के विषय में कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रखते हैं। देवर्षि की अधिक प्रसिद्धि है, इस कारण इन के विषय में तरह तरह

की बातें भी लोग कहा करते हैं। पुराण ग्रन्थों से सङ्कलित कर देवर्षि नारद का परिचय यहाँ दिया जाता है।—

स्वायम्भुव मन्वन्तर में ब्रह्मा ने दस मानस पुत्र उत्पन्न किये थे। उन्हीं दस मानस पुत्रों में एक नारद भी थे। ब्रह्मा ने सृष्टि प्रसार करने के लिये दस मानस पुत्रों की सृष्टि की थी, पर वे पुत्र इस कार्य के लिये असमर्थ निकले। उन में सात्विक अंश अधिक था, इस कारण संसार के झंझटों में फँसना उन्हें अच्छा नहीं लगा। नारद ने भी अपने अन्य भाइयों का अनुकरण किया और इन्होंने भी व्याह नहीं किया। ये सदा बाल-ब्रह्मचारी रहे, परमात्मचिन्तन ही इन के जीवन का प्रधान उद्देश्य रहा। नारद को विद्याभ्यास का भी बड़ा अच्छा अवसर मिला। इन्होंने अपने भाइयों के साथ सब विद्याओं का अभ्यास किया, तपस्या की, देवर्षि की पदवी इन्हें प्राप्त हुई और ये सब देवर्षियों में अपनी योग्यता के कारण प्रधान गिने जाने लगे। अधिक से अधिक योग्यता पाने पर भी इन का बाल-स्वभाव नहीं छूटा था। कहा जाता है कि ये इधर की बात उधर कर के लोगों को लड़ाया करते थे। सच्ची बात क्या है यह तो मालूम नहीं, पर प्रसिद्धि ऐसी ही है। इस प्रसिद्धि के कारण ही आजकल भी इधर की बात उधर करनेवालों को नारद की उपाधि दी जाती है। पर ऐसा करना नारद के साथ अन्याय करना है। नारद झगड़ा लगाते थे उत्तम उद्देश्य से प्रेरित हो कर। नारद देवताओं की नीति दैत्यों को बतला दिया करते थे और दैत्यों की नीति यदि मालूम हो तो वह देवताओं को बतला दिया करते थे। इस में इन का उद्देश्य क्या रहता था सो सभी साफ साफ समझ सकते

हैं। नारद छिप कर न तो कोई काम स्वयं करते थे और न दूसरे को ही छिप कर काम करने देना चाहते थे। गुप्तनीति इन्हें पसन्द नहीं थी। ये सभी को सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझते थे। सम्भवतः इनका उद्देश्य यह रहा होगा कि योग्यता से लोग विजय पावें। छल कपट से धोखाधड़ी से विजय प्राप्त करने की नीति इनकी दृष्टि में हेय थी। यही इनकी नीति थी। "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" की नीति को ये पसन्द नहीं करते थे। नारद की इस नीति के कारण कइयों की हानियाँ हो जाया-करती थीं। जिसकी हानि होती है वह अपने हानिकर्ता की निन्दा करे इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है।

नारद की गति त्रिलोक में अबाधित थी। ये जहाँ चाहते वहाँ जा सकते थे, जिस के यहां चाहते उस के यहाँ जा सकते थे, इन के लिये कोई रोक-टोक न थी। देवता, ऋषि, मुनि, लोकपाल, स्वर्ग, पाताल, मर्त्य आदि लोकों में ये सदा विचरण करते थे, अतएव इन को सब जगह की खबर भी रहा करती थी। लोगों को भी यह बात मालूम थी कि नारद जी सर्वत्र विचरण करते हैं, अतएव इन्हें कोई न कोई नयी ख़बर अवश्य मालूम होगी, इसी लिये नारद जी से लोग खबरें पूछा करते थे। जब नारद जी ने लोगों की यह प्रवृत्ति देखी तब वे भी खबरों को संग्रह करने लगे।

ये सङ्गीतविद्या के एक आचार्य हैं। इन की प्रकाशित गान-विद्या नारदी गान के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि पहले पहल नारद ने यमुना के तट पर कहीं आश्रम बनाया और वे वहीं रहने लगे; वहीं इन्होंने गानविद्या का अभ्यास किया। पुनः आश्रम को त्याग कर ये त्रिलोक में घूमने लगे। वीणा इनके पास

सदा रहती थी और वे सदा अपने में सन्तुष्ट रहते थे। सदा गाया करते थे। इनके गान में नीति और धर्म का उपदेश भरा रहताथा। नारद जहाँ जाते लोग इनके गान और उपदेश सुनने के लिये एकत्रित हो जातेथे। इसके दो कारण थे-एक तो सङ्गीत का रसास्वाद मिलता था, दूसरे धर्म और नीति के उपदेश भी सुनने को मिलते थे। ऐसा सुयोग छोड़ना कई विरला ही अभागा चाहेगा। इससे नारद जी की सर्वप्रियता बढ़ने लगी। नारदके उपदेशों का असर भी लोगों पर खूब होता था। नारद उपचार से बड़ी घृणा करते थे, महत्व नाम का कीड़ा इन की बुद्धि में नहीं लगा था, अतएव जहाँ इच्छा होती, गली में कूचे में सब जगह नारद गाना प्रारम्भ कर देते थे,सब जगह अपना उपदेश देना प्रारम्भ कर देते थे। नारद का उपदेश प्रारम्भ होते ही लोगों की भीड़ लग जाती थी। नारद विरक्त थे; उन्हें न तो किसी को खुश रखना था और न किसी को नाराज करना था। नारद अपना काम करते थ, उस से कोई खुश होना चाहे तो खुश होले और कोई नाराज होना चाहे तो नाराज होले। इन बातों की चिन्ता नारद को न थी। पर नारद पर नाराज कोई नहीं होता था। क्योंकि नारद किसी की नाराजी का कुछ परवाह नहीं करते थे। मनुष्य नाराज होता है भय दिखाने के लिये, दण्ड देने के लिये; पर जो नाराजी से डरता नहीं उस पर नाराज होना व्यर्थ है, उसी से वैसे मनुष्यों पर कोई नाराज भी नहीं होता था। नारद पर सभी प्रसन्न रहते थे। देवता, ऋषि, मुनि, राजा, प्रजा सभी नारद पर प्रसन्न थे,सभी नारद से बातचीत करना और नारद का गान सुनना पसन्द करते थे। नारद सदा भगवान् का नाम

स्मरण किया करते थे। विष्णु भगवान् की उन पर बड़ी प्रसन्नता थी। कहते हैं नारद भगवान् के अन्तरङ्ग मित्रों में से थे।

नारद के साठ हजार शिष्य थे। उन्होंने सब को उत्तम ज्ञान की शिक्षा दी थी। नारद ने पञ्चरात्र नामक एक ग्रन्थ बनाया है, जो नारदपञ्चरात्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस की पुरानी प्रति इस समय प्राप्त नहीं होती, इस समय जो इस नाम से प्रसिद्ध पुस्तक पायी जाती है उसमें बहुत हिस्सा मिला दिया गया है। पर ऐसी बात कहनेवाले अपने मत को पुष्ट करने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं देते। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय का यह मान्य ग्रन्थ है। नारदपुराण नाम का एक ग्रन्थ नारद के नाम से प्रसिद्ध है।

नारद की कई विशेषताएँ हैं। उनमें पहली और प्रधान विशेषता यह है कि जहाँ देखिये वहाँ नारद हाजिर हैं। रामचन्द्र की सभा में धर्मशास्त्रियों के साथ नारद धर्मनिर्णय कर रहे हैं। कुवेर की सभा भी नारद से खाली नहीं रहती। इन्द्र की सभा में तो नारद का बड़ा ही आदर होता है। नारद के द्वारा लोक-लोकान्तरों की खबर पाकर इन्द्र बहुत प्रसन्न होते हैं। युधिष्ठिर की सभा में भी नारद आये हैं और उन्होंने नीतितत्व के उपदेश दिये हैं। नारद के वे उपदेश नारद-नीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। लक्ष्मी के साथ विष्णु का व्याहकरानेवालों में प्रधान नारद ही हैं। ऊर्वशी नाम की अप्सरा इन्द्र को बहुत ही प्रिय थी, पर उस का प्रेम राजा पुरुरवा पर था। राजा पुरुरवा भी उसे चाहते थे, बड़ाही विकट प्रसङ्ग आया, किया क्या जाय, विष्णु को इस की खबर मिली, विष्णु ने इस झगड़े को निपटाने

का भार नारद को दिया। नारद ने इन्द्र को समझाया बुझाया और उर्वशी पुरूरवा को मिल गयी। जालन्धर नाम का एक दैत्य था, इस की स्त्री का नाम वृन्दा था। वृन्दा बड़ी ही पतिव्रता थी, उस के पातिव्रत्य के प्रभाव से वह दैत्य बड़ा बलवान हो गया था। सती के प्रभाव के कारण इस को मारनेवाला कोई नहीं था। इस से उन्मत्त हो कर वह क्रूरता-पूर्वक देवता मनुष्य आदि पर अत्याचार करता था। उस के अत्याचार से लोग दुःखी और हताश हो गये थे। नारद को इस बात की खबर लगी; इन्हो ने युक्ति कर के उसे मरवा-डाला। वसुदेव के यहाँ कृष्ण जन्म लेंगे, यह आकाशवाणी सत्य है, यह बात नारद ने ही कंस को बतलायी थी। कंस अधिकता और तत्परता से पापकर्म कर, जिससे शीघ्र उस का विनाश हो, इस का प्रबन्ध भी नारद ने ही किया था। वासवदत्ता का पुत्र विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा, इस बात को प्रकाशित करने का अवसर नारद को ही सब से पहले मिला था। सत्यवान् के अल्पायु होने की बात भी इन्हों ने ही कही थी, जिस विकट प्रसङ्ग को सावित्री ने अपने सतीत्व के प्रताप से टाल दिया था। बालक ध्रुव को नारदजी ने ही उपदेश दिया था, ऋतुध्वज को भी इन्हों ने ही उपदेश दिया था। इस प्रकार पुराण में जिन बड़ी बड़ी घटनाओं के वर्णन हैं, उन सबों में प्रायः नारद का भी उल्लेख मिलता है। नारद विरक्त महात्मा हैं, पर संसार के कामों में सदा उन्होंने योग दिया है।

एकबार नारदजी व्यासजी के आश्रम में गये, व्यासजी का आश्रम सरस्वती-तीर पर था। वहीं वीणावादन-लोलुप

देवर्षि नारद पहुँचे। व्यासजी ने बड़ी श्रद्धासे इन का आदर-सत्कार किया, आसन दिया। नारद सुखपूर्वक आसन पर बैठे। इन्हों ने देखा कि व्यासजी का मुखमण्डल मलीन है, उस पर प्रसन्नता की रेखाएँ शोभित नहीं हो रही हैं, यह देख नारदजी ने पूछा ब्रह्मर्षि व्यास! आपने इतने बड़े महाभारत नाम के ग्रन्थ का निर्माण किया है, जिसमें संसार का ज्ञान आपने भर दिया है, आप ब्रह्मवेत्ता हैं, फिर आप अप्रसन्न क्यों हैं? फिर आपका मुखमण्डल मलीन क्यों है? आप के हृदय में शोकाग्नि की शिखा क्यों जल रही है? मुझे मालूम होता है कि महाभारत बना कर भी आप सन्तुष्ट नहीं हुए। व्यास ने कहा, देवर्षिप्रवर! जो आप कहते हैं वह बिलकुल सत्य है, महाभारत बनाकर भी मेरा मन शान्त नहीं हुआ। नारद ने कहा, "ब्रह्मर्षि! मैं आपकी अशान्ति का एक कारण समझता हूँ, आपने महाभारत में भगवद्गुणानुवाद नहीं किया है, आपने सब ज्ञान अपने ग्रन्थ में भरा है अवश्य, पर उस में आपने भगवद्गुण-कीर्तन नहीं किया है। भगवद्गुणानुवाद ही इस धरा-धाम को पवित्र करने वाली उत्तम वस्तु है। अब आप एक ऐसा ग्रन्थ बनावें जिसमें भगवान् का गुणानुवाद हो, जिसमें भगवद्यश गाया गया हो, जिसमें भगवान् के चरणों की महिमा बतलायी गयी हो, जिसमें भगवान् की दयालुता, भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन हो।" इतना कहनेके पश्चात् व्यास देव के मन को शान्त करने के लिए उन्होंने अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त कहा, जो भगवत्कृपा से नारद ने जाना था। नारद ने कहा—पूर्वजन्म में मैं एक मुनि का दासीपुत्र था। उस मुनि के आश्रम में चातुर्मास्य

विताने के लिए अनेक ऋषि मुनि प्रतिवर्ष आया करते थे। एक साल सनकादिक ऋषि उस आश्रम में आये; उनकी सेवा करनेके लिए मुनि ने मुझे नियत किया। मैं बड़ी श्रद्धा भक्ति से उनकी सेवा करता था। वे मुझे मितभाषी, इन्द्रियजित्, अचपल और कार्यतत्पर देख कर बहुत प्रसन्न हुए। उनका कृपा भाव मेरे ऊपर बढ़ने लगा। मैं मुनियों का उच्छिष्ट भोजन करता था, जिस से मेरी बुद्धि शुद्ध हुई और धर्म की ओर मेरी बुद्धि झुकने लगी। तब से हरिगुणकीर्तन में मुझे आनन्द आने लगा। परमात्मा के विषय में मेरी बुद्धि दिनोंदिन दृढ़ होती गयी। ऋषिगण भगवान् के निर्मल यश का गान करते थे, भगवान् के विषय में तर्क वितर्क किया करते थे, यह सब मैं बड़े ध्यान से सुनता था। इससे मेरे हृदय में भगवद्भक्ति का उदय हुआ। महर्षियों ने दया-पूर्वक मुझे अधिकारी देखकर मुझे भगवान् के गुप्ततम मन्त्र का उपदेश दिया। मैं भगवद्भक्ति की साधना करने लगा। मुनियों ने मुझे देशाटन करने की आज्ञा दी। मैं अपनी माता का एक ही पुत्र था। मेरी माता असहाय थी। उसे मुझे छोड़ दूसरा कोई अवलम्ब न था। अतएव उसका मुझपर बड़ा मोह था। मैं प्रतिदिन महात्माओं की आज्ञा से जप तप भगवद् भजन, भगवद्-ध्यान किया करता था; इससे मेरे हृदय में ज्ञान का प्रसार हुआ। वनमें जाकर तपस्या करने की मेरी इच्छा हुई, पर मेरी माता एक क्षण के लिए भी मुझे अपनी आँखों के ओझल नहीं होने देती थी। कोई गति न देख कर मैं अपनी माता को साथ लेकर देशाटन के लिए निकला। रास्ते में माता को साँप ने काटा, जिससे उस की मृत्यु हुई।

माताकी मृत्यु से मैं बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि वही मेरे साधन में एक बहुत बड़ा विघ्न था, भगवत् कृपासे वह विघ्न दूर हो गया। यद्यपि उस समय मेरी अवस्था छोटी थी, पर मैं निर्भय हो कर भगवत्स्वरूप का चिन्तन करता हुआ उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। रास्ते में अनेक सुन्दर नगर, धनियों के अनेक महल, बाग, उपवन, नदी, तालाब मैंने देखे। पर मैं आगे बढ़ता ही गया। मैं एक बहुत ही बड़े और घने वन में पहुँचा। उसमें एक तालाब था। उसके तीर पर मैं बैठ गया। उस समय मैं बहुत थक गया था। हाथ पैर शिथिल पड़ गये थे। आगे चलने की इच्छा न होती थी, भूख प्यास की बाधा अलग ही सता रही थी। मैंने उस तालाब में स्नान किया और थोड़ा जल पीया, इससे शरीर में बल का कुछ सञ्चार हुआ। वहाँ से थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर मुझे एक पीपल का वृक्ष मिला। उसीके नीचे बैठ कर मैं भगवान् का ध्यान करने लगा, थोड़ी देर के पश्चात् मैं बेसुध हो गया। वाह्य संज्ञा लुप्त हो गयी। उसी समय एक बार मुझे परमात्मा का दर्शन हुआ। थोड़ी ही देर के पश्चात वह मूर्ति अन्तर्हित हो गयी, उस समय मैं बहुत व्याकुल हुआ। मेरी उत्कण्ठा बढ़ने लगी, भगवान् के पुनः एक बार दर्शन करने की मेरी इच्छा बहुत ही प्रबल हुई, मैंने पुनः ध्यान किया, पर भगवान् के दर्शन न हुए। उसी समय आकाश-वाणी ने कहा—"वत्स! इस जन्म में अब तुम इस मूर्ति का दर्शन नहीं कर सकते। तुम्हारे प्रेम को बढ़ाने के लिए ही मैंने एक बार अपना दर्शन दिया। निष्काम चित्त से ध्यान-योग के द्वारा धीरे धीरे योगी गण मेरा साक्षात्कार पाते हैं।

अभी तुम महात्माओं की सेवा करो, जिससे मुझपर तुम्हारी भक्ति दृढ़ हो। इस देह के अन्त होने पर तुम हमारे लोक में आवोगे। उस समय तुम्हें मेरा नित्य दर्शन होगा और पूर्व-जन्म का ज्ञान भी बना रहेगा। तुम साधन करते जाओ और समय की प्रतीक्षा करो। यह कह कर भगवान् ने मुझे एक वीणा दी। उसी वीणा को बजाते हुए मैं सब जगह घूमने लगा; भगवत्-स्वरूप का चिन्तन करने लगा।

इस प्रकार घूमता घामता मैं शिविदेश की राजधानी में पहुँचा। वहाँ की रानी कैकेयी ने मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया। वहाँ पर्वत ऋषि से मेरी भेंट हुई। हम दोनों वहाँ बहुत दिनों तक रहे। हम दोनों जो कुछ सोचते विचारते थे वह आपस में प्रकट कर देते थे। वहाँ के राजा को एक कन्या थी, जिसका नाम दमयन्ती था। पर्वत ऋषि ने राजा से कहा कि आप अपनी पुत्री से मेरा ब्याह करदें। राजा ने कहा, मेरी पुत्री का ब्याह उससे होगा जिसका ब्याह न हुआ होगा। यह सुन कर पर्वत ऋषि ने राजा की पुत्री के साथ अपने ब्याह होने की आशा त्याग दी। मुझे भी इन बातों की खबर लगी, मैंने भी राजा से कहा कि आप अपनी पुत्री का ब्याह मेरे साथ करदें। पर यह बातें मैंने पर्वत से नहीं कही। पर किसी तरह पर्वत को यह बात मालूम हो गयी। उन्हों ने मुझे शाप दिया कि तुम्हारा मुँह विकृत हो जाय। मैंने भी उन्हें शाप दिया कि स्वर्ग में जाने की तुम्हारी शक्ति नष्ट हो जाय। यह शाप सुनकर पर्वत ऋषि पृथिवी प्रदक्षिणा करने निकले। राजपुत्री को जब यह बात मालूम हुई कि उसी के कारण मेरा मुँह विकृत हो गया है तब उसे बड़ी

दया आयी और वह आकर मेरी सेवा करने लगी। बहुत दिनों के पश्चात् पर्वत पृथिवी-प्रदक्षिणा करके लौटे। उन्हों ने अपना शाप हटा लिया, मैंने भी अपना शाप हटा लिया। पीछे राजा ने भी अपनी कन्या का व्याह मेरे साथ कर दिया। मैं सदा भगवान् का ध्यान करता था। उनकी भावना करते करते ही मैंने शरीरत्याग किया। तदन्तर भक्तवत्सल भगवान् की कृपा से मैं ब्रह्मा का मानस पुत्र हुआ। तब से मैंने व्याह नहीं किया। मैं सदा बृहती नाम की अपनी वीणा बजाता रहता हूँ, सदा भगवद् गुणानुवाद करता रहता हूँ और भगवान् का दर्शन किया करता हूँ और प्रभु की कृपा से अपने पूर्व जन्मका वृत्तान्त भी मुझे स्मरण है। इस प्रकार भगवतकीर्तन का महत्व बतलाकर नारद चुप हो गये।

नारद के इस उपदेश से प्रसन्न होकर व्यासदेव ने भागवत नामक भगवद्गुणानुवाद-पूर्ण एक ग्रन्थ बनाया।

छान्दोग्योपनिषद् में नारद-सनत्कुमार-सवाद नामक एक मनोरंजक कथोपकथन है, वह नीचे उद्धृत किया जाता है।—

एक बार देवर्षि नारद सनत्कुमार के समीप गये और बोले, भगवन्! आप मुझे कुछ उपदेश करें। सनत्कुमार ने कहा—तुम ने क्या पढ़ा है सो कहो, तदन्तर मैं तुम को उपदेश करूँगा। यह सुन कर नारद ने कहा—भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद, पाँचवाँ वेद इतिहास और पुराण, व्याकरण, पितृसम्बन्धी श्राद्धकल्प, राशि, अर्थात् गणित विद्या, दैव अर्थात् उत्पातविषयक शास्त्र, निधि अर्थात् निजशास्त्र, तर्कशास्त्र, एकायन अर्थात् नीति·

शास्त्र, देवविद्या अर्थात् निरुक्तशास्त्र, ब्रह्मविद्या अर्थात् शिक्षाकल्प आदि शास्त्र, भूतविद्या अर्थात् तन्त्रशास्त्र, क्षत्र-विद्या अर्थात् धनुर्वेद, नक्षत्र विद्या अर्थात् ज्योतिष, सर्पविद्या अर्थात् गरुड़शास्त्र, और देवजनविद्या अर्थात् नृत्यगीत, शिल्प आदि विज्ञानशास्त्र मैंने पढ़े हैं। भगवन्! मैं शास्त्रज्ञाता हुआ हूँ, पर आत्मज्ञाता नहीं हो सका हूँ। मुझे आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं हुआ है। मैंने आपके समान महात्माओं के मुँह से सुना है कि आत्मज्ञाता मनुष्य ही शोकसमुद्र के पार जाते हैं। मैं शोकार्त हूँ; आप मुझे शोक से उद्धार करें। नारद की बात सुन कर भगवान् सनत्कुमार ने कहा, तुमने जो कुछ पढ़ा है वह केवल नाम है अर्थात् शब्द मात्र है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद पञ्चमवेद इतिहास और पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, दैव, निधि, तर्क नीति, निरुक्त, शिक्षा, कल्पादि, ब्रह्मविद्या, तन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पविद्या, नृत्यगीतादि, देवजनविद्या, आदि सभी के सभी केवल शब्द हैं। इन्हीं शब्दों में ब्रह्म विद्यमान है, यह समझ कर इन शब्दों की उपासना करो। प्रतिमा के समान शब्द में ब्रह्मबुद्धि कर के जो शब्द की उपासना करते हैं उन्हें जहाँ तक शब्द जाता है वहाँ तक स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है, पर इस शब्द से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा कि भगवन्! शब्द से जो बड़ी वस्तु है उसी का मुझे उपदेश करो।

वाक् शब्द से बड़ी वस्तु है, वाक्य ही ऋक्, यजु, साम, अथर्व ये चार वेद, पाँचवाँ वेद इतिहास और पुराण, व्याकरण, श्राद्ध, कल्प, गणित, दैव, निधि, तर्क, नीति, निरुक्त, शिक्षा कल्पादि, ब्रह्मविद्या, तन्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पविद्या, नृत्य-

गीतादि, देवजनविद्या, स्वर्ग, पृथ्वी, जल, आकाश, देवता, मनुष्य, तेज, पशु, पत्ती, उद्‌भिद, श्वापद, कीट, पतंग आदि धर्म, अधर्म, सत्य, असत्, साधु, असाधु, प्रिय, अप्रिय आदि सब को प्रकाशित करता है। यदि वाक्य न होता तो धर्माधर्म आदि कुछ भी जाना न जाता। वाक्य ही धर्माधम को जनाता है, इस कारण वाक्य की उपासना करो।

जो ब्रह्म-बुद्धि रखकर वाक्य की उपासना करता है, वह जहाँ तक वाक्य की गति है वहाँ तक स्वच्छन्दगति प्राप्त करता है। पर इस वाक्य से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! वाक्य से जो बड़ी वस्तु है, उसी का आप उपदेश करें।

मन ही वचन से बड़ी वस्तु है, जिस प्रकार मनुष्य हाथ में लेकर आँवला, बैर या बहेरे के फल का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार मन, शब्द और वाक्य का अनुभव करता है। पुरुष जब मन के द्वारा सोचता है कि मन्त्र उच्चारण करूँ या कर्म सम्पादन करूँ, तभी वह मन्त्रोच्चारण या कर्म सम्पादन करता है, जब यह पशु या पुत्र पाने की इच्छा करता है तभी पुत्र पशु आदि पाता है, जब इस लोक या परलोक के पाने की इच्छा करता है तभी वह उन्हें पाता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, और मनही ब्रह्म है, मन की उपासना करो।

जो मन को ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करते हैं वे मन की जहाँ तक गति है वहाँ तक स्वच्छन्द गति प्राप्त करते हैं। पर इस मन से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा—भगवन्! इस मन से जो बड़ी वस्तु है उसी का आप मुझे उपदेश करें।

संकल्प ही मन से बड़ी वस्तु है। पुरुष जब संकल्प करता है तभी वह वचन आदि इन्द्रियों को परिचालित करता है। और तभी वागिन्द्रिय को शब्द की ओर प्रेरणा करता है।

तदनन्तर मन्त्र और शब्द एक हो जाते हैं, अर्थात् मन्त्र का उच्चारण होता है। अन्त में सब कर्म मन्त्रों मे मिल जाते हैं अर्थात् कर्म सम्पादन होता है; इस प्रकार देखा जाता है कि सभी संकल्प के अन्तर्गत है। अतएव संकल्प ही बड़ी वस्तु है।

कर्म आदि सभी संकल्प के आश्रित हैं, संकल्प स्वरूप है और संकल्प वर्तमान है। स्वर्ग और पृथ्वी संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं। वायु और आकाश संकल्प से उत्पन्न हुए हैं। जल और तेज संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं। स्वर्ग की उत्पत्ति से वृष्टि की उत्पत्ति हुई है, वृष्टि की उत्पत्ति से अन्न की उत्पत्ति हुई है, अन्न की उत्पत्ति से प्राण की उत्पत्ति हुई है, प्राण की उत्पत्ति द्वारा मन्त्र की उत्पत्ति हुई है, मन्त्र की उत्पत्ति द्वारा कर्म की उत्पत्ति हुई है, कर्म की उत्पत्ति द्वारा लोक की उत्पत्ति हुई है और लोक की उत्पत्ति द्वारा सब की उत्पत्ति हुई है, संकल्प ऐसी वस्तु है; अतएव संकल्प की उपासना करो।

जो संकल्प को ब्रह्म समझ कर उसकी उपासना करते हैं वे संकल्पित अचल सर्व सुख सम्पन्न और भयरहित समस्त लोगों को प्राप्त करते हैं और स्वयं ध्रुव प्रतिष्ठित और भय-रहित हो जाते हैं।

इस संकल्प को जहाँ तक गति है वहाँ तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर इस संकल्प से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा—भगवन्! संकल्प से बढ़ कर जो बड़ी वस्तु है उसका उपदेश करो।

चित्तही संकल्प से बड़ी वस्तु है, पुरुष जब पूर्वापर-विचार करता है तब वह संकल्प करता है, वह संकल्प के बाद मनन करता है, मनन के बाद इन्द्रिय-परिचालन करता है, तद-

नन्तर शब्द—प्रयोग करता है, तदनन्तर समस्त मन्त्र उच्चारित होते हैं, मन्त्र के उच्चारणके पश्चात् समस्त कर्म सिद्ध होते हैं।

कर्म आदि समस्त चित्त के आश्रित हैं, कर्म स्वरूप है और कर्म में प्रतिष्ठित है। यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति बहरा है पर वह चित्तरहित है तो उसकी इस बात पर कोई विश्वास नहीं करता, क्योंकि यह असम्भव बात है। यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति अल्पज्ञ परचित्तरहित है तो उस की इस बात पर कोई विश्वास नहीं करता, क्योंकि यह असम्भव बात है। जिस को ज्ञान है वह कभी चित्तरहित नहीं हो सकता। जिस को चित्त है वही ज्ञानसम्पन्न हो सकता है। उस का ज्ञान भले ही थोड़ा है, तो भी लोग उसकी बातें सुनने की इच्छा करते हैं। संकल्प आदि का चित्त में ही लय होता है। चित्त ही उन का स्वरूप है और चित्त ही उन का आश्रय है। अतएव चित्त की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझ कर चित्त की उपासना करते हैं वे चित्त-विषयी भूत ध्रुव प्रतिष्ठित और व्यथारहित समस्तलोकों को प्राप्त होते हैं और स्वयं ध्रुव प्रतिष्ठित तथा व्यथारहित होते हैं। जहाँ तक चित्त की गति है वहाँ तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर इस चित्त से भी बड़ी वस्तु है।

नारद ने कहा, भगवन्! चित्त से बढ़ कर जो बड़ी वस्तु है उस का उपदेश आप करें।

ध्यान ही चित्त से बड़ा है, पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देवता और मनुष्य आदि जो कुछ देखे जाते हैं, वे समस्त मानो ध्यानपरायण हो रहे हैं। इस संसार में जो मनुष्य महान हुए हैं उन्हें ध्यानफल के द्वारा ही यह महत्त्व प्राप्त हुआ है। छोटा, बड़ा, सीधा, टेढ़ा कलहशील और शान्त सभी

ध्यानफल के तारतम्य से अपने २ दोष-गुणों को प्राप्त होते हैं अतएव ध्यान की उपासना करो। जो ब्रह्म समझ कर ध्यान की उपासना करते हैं वे ध्यान की जहाँ तक गति है वहाँ तक स्वच्छन्द गति प्राप्त होते हैं। पर इस ध्यान से भी बड़ी वस्तु है।

नारद ने कहा, भगवन्! ध्यान से जो बड़ी वस्तु है उसका आप उपदेश करें।

विज्ञान ही ध्यान से बड़ा है। विज्ञान अर्थात् अनुभव के द्वारा ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, श्राद्धकल्प, गणित, दैव, निधि, तर्क, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, युद्धविद्या, ज्योतिष, सर्पविद्या, नृत्य-गीतादि विद्या, स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण,वृक्ष, श्वापद, कीट, पतंग, पिपीलिका, धर्म, अधर्म, सत्य, मिथ्या, साधु, असाधु, प्रिय, अप्रिय, अन्न, रस, इहलोक और परलोक आदि समस्त ही ज्ञात हो जाते हैं। अतएव विज्ञान की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझ कर विज्ञान की उपासना करते हैं वे ज्ञान-विज्ञान युक्त समस्त लोकों को प्राप्त होते हैं, जहाँ तक विज्ञान की गति है वहाँ तक उन्हें गति प्राप्त होती है। पर विज्ञान से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! जो विज्ञान से बड़ा है उसी का आप हमें उपदेश दें।

बल विज्ञान से बड़ा है। सौ विज्ञानी को एक बली विचलित कर सकता है। बली मनुष्य ही उठना चलना समीप जाना, देखना, सुनना, मनन आदि में समर्थ हो सकता है। बलशाली मनुष्य ही योद्धा कर्त्ता और विज्ञाता हो सकते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग,पर्वत, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण,

तरु, श्वापद, कीट, पतंग और पिपीलिका आदि समस्त बल के अवलम्ब से ही वर्तमान हैं; अतएव बल की उपासना करो।

जो ब्रह्मबुद्धि से बल की उपासना करते हैं, जहाँ तक बल की गति है वहाँ तक उन्हें स्वच्छन्दगति प्राप्त होती है। पर बल से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! जो बल से बड़ा है उस का आप उपदेश हम को करें।

अन्न ही बल से बड़ा है, यदि कोई दस दिन भोजन न करे तो वह मर जाता है; यदि न मरे तो दर्शन, श्रवण, मनन, बोधकर्तृत्व और विज्ञान आदि की शक्ति नहीं रह जाती। भोजन करने से दर्शन, श्रवण, मनन, बोधकर्तृत्व और विज्ञान आदि की शक्ति प्राप्त होती है, अतएव अन्न की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझ कर अन्न की उपासना करते हैं वे अन्नपान से युक्त समस्त लोकों को प्राप्त करते हैं, जहाँ तक अन्न की गति है वहाँ तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर इस अन्न से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा—भगवन्! जो अन्न से बड़ा है उसी का आप मुझे उपदेश करें।

जल अन्न से बड़ा है। यदि सुवृष्टि न हो तो सब लोग-अन्न थोड़ा होगा—यह सोच कर बहुत दुःखी होते हैं। जब सुवृष्टि होती है तब अन्न अधिक होगा—यह सोच कर सब प्राणी सुख पाते हैं। यह पृथ्वी अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वृक्ष स्वापद, कीट, पतंग और पिपीलिका आदि समस्त मूर्तिमान वस्तु जल के ही परिमाण हैं। अतएव जल की उपासना करो।

जो ब्रह्मबुद्धि से जल की उपासना करते हैं, वे सब कामों

को प्राप्त करते हैं, तृप्त होते हैं और जहाँ तक जल की गति होती है वहाँ तक स्वच्छन्दगति प्राप्त करते हैं। पर जल से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा—जल से जो बड़ा है उसी का हमको उपदेश आप दें।

तेज ही जल से बड़ा है। तेज वायु रोक कर आकाश को तप्त करता है। तब लोग कहते हैं कि वायु निश्चल हुआ है, बड़ी गरमी है, शीघ्र ही वृष्टि होगी। पहले तेज देखा जाता है तब वृष्टि होती है। तेज ही ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी विद्युत् के साथ मेघों को सञ्चारित करता है, जब विद्युत् प्रकाशित होती है तब मेघ चलते हैं, उस समय लोग कहते हैं कि वृष्टि होगी। पहले तेज देखा जाता है, तब वृष्टि होती है, अतएव तुम तेज की ही उपासना करो।

जो ब्रह्मबुद्धि से तेज की उपासना करते हैं वे तेजस्वी होते हैं और तेजयुक्त तथा तमोहीन समस्त लोकों को प्राप्त करते हैं। जहाँ तक तेज की गति है वहाँ तक वे स्वच्छन्द गति प्राप्त करते हैं, पर इस तेज से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, जो तेज से बड़ा है उसी का आप हमको उपदेश दें।

आकाश तेज से बड़ा है। आकाश में ही सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि की स्थिति है। आकाश की सहायता से श्रवण और आकाश की सहायता से ही प्रतिश्रवण होता है। आकाश में ही रमण और अरमण होता है, आकाश में ही उत्पत्ति होती है, आकाश को लक्ष्य करके ही शाखा आदि के उद्गम होते हैं। अतएव आकाश की उपासना करो। जो आकाश की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करते हैं वे अवकाश-विशिष्ट, प्रकाशविशिष्ट तथा परस्पर बाधारहित लोकों को प्राप्त

होते हैं। आकाश की जहाँ तक गति है वहाँ तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त होती है। पर आकाश से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, भगवन्! आकाश से जो बड़ी वस्तु है उसी का आप हमको उपदेश दें।

स्मरण आकाश से भी बड़ा है। गुरु, शिष्य आदि अनेक लोगों के समागम होने पर भी यदि वे परस्पर अपने २ कर्त्तव्यों का स्मरण न करें तो वे किसी भी विषय को श्रवण, मनन तथा समझ नहीं सकते। स्मरण के द्वारा ही पशु आदि और पुत्र आदि जाने जाते हैं, अतएव स्मरण की ही उपासना करो।

जो स्मरण की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करते हैं वे इस स्मरण की जहाँ तक गति है वहाँ तक स्वच्छन्द गति पाते हैं। पर इस स्मरण—से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, जो स्मरण से बड़ा है उसी का उपदेश हम को करो।

आशा स्मरण से बड़ी है। आशायुक्त स्मरण से ही मन्त्रोच्चारण होता है, और कर्म सम्पादन होता है। पशुंयुक्त इह लोक और परलोक आदि की कामना होती है, अतएव आशा की उपासना करो।

जो ब्रह्म समझ कर आशा की उपासना करते हैं, इस आशा के द्वारा ही उनकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं, उनके सब मनोरथ सफल होते हैं। इस आशा की गति जहाँ तक है वहाँ तक उन्हें स्वच्छन्द गति प्राप्त हाती है। पर इस आशा से भी बड़ी वस्तु है। नारद ने कहा, आशा से जो बड़ा है आप उसी का मुझे उपदेश दें।

प्राण आशा से बड़ा है। जिस प्रकार पहिये के धुरा में अरा नाम की सब लकड़ियाँ लगायी जाती हैं, उसी प्रकार प्राण में सभी सम्बद्ध हैं। प्राण प्राण के द्वारा ही गमन करता है। प्राण ही प्राण को लक्ष्य करके दान करता है। प्राण ही पिता, माता, भाई, बहन, आचार्य और ब्राह्मण है।

यदि कोई पिता, माता, भाई बहिन, आचार्य या ब्राह्मण के साथ अनुचित व्यवहार करता है तो लोग उनको धिक्कार देते हैं। लोग उनको पितृहन्ता, मातृहन्ता, भगिनीहन्ता, आचार्यहन्ता या ब्राह्मणहन्ता कहते हैं।

इस कारण पिता आदि सभी प्राण हैं; इस प्रकार युक्तिद्वारा प्राण की प्रधानता देख कर निश्चय कर या जानकर जो सर्वोत्कृष्ट प्राणात्मवादी हो जाय और उन को यदि कोई अतिवादी कहे तो उन्हें यह मान लेना चाहिये, इसको अस्वीकार नहीं करना चाहिये।

वास्तविक बात यह है कि जो सत्य को ही सर्वोत्कृष्ट आत्मा समझते हैं वे ही यथार्थ अतिवादी हैं। नारद ने कहा, भगवन्! तब मैं सत्य को ही सर्वोत्कृष्ट आत्मा कह कर अतिवादी बनूँगा। सनत्कुमार ने कहा हाँ, सत्य को ही जानने के लिये विशेष प्रयत्न करना आवश्यक है। नारद ने कहा— भगवन्! तब मैं सत्य को ही जानने की इच्छा करता हूँ।

सनत्कुमार ने कहा, जब विशेष रूप से ज्ञान रहता है तभी मनुष्य सत्य बोला करता है, विशेष रूप से बिना जाने कोई सत्य नहीं बोल सकता। मनुष्य अच्छी तरह से जान कर ही सत्य बोलता है। अतएव विज्ञान की ही विशेष रूप से जिज्ञासा

होनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्, मैं विज्ञान की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ।

सनत्कुमार ने कहा—जब श्रद्धा होती है तभी मनुष्य मनन करता है, बिना श्रद्धा के मनन नहीं करता। श्रद्धा से ही मनन किया जाता है, अतएव श्रद्धा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा होनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्! मैं श्रद्धा की ही जिज्ञासा करता हूँ।

सनत्कुमार ने कहा—जब लोग गुरुसेवा में प्रवृत्त होते हैं तभी श्रद्धा उत्पन्न होती है। गुरुसेवा में प्रवृत्त न होने पर श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। गुरुसेवा में प्रवृत्त होने पर ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, अतएव निष्ठा की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्! निष्ठा की ही विशेष रूप से मैं जिज्ञासा करता हूँ।

सनत्कुमार ने कहा—यत्नपूर्वक सेवा करने से ही सेवा में निष्ठा उत्पन्न होती है। यत्नपूर्वक सेवा न करने से निष्ठा उत्पन्न नहीं होती। यत्नपूर्वक सेवा करने से ही निष्ठा उत्पन्न होती है, अतएव यत्न की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन्! मैं यत्न की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ।

सनत्कुमार ने कहा—जब गुरुसेवा में सुख मिलता है तभी लोग सेवा में यत्न करते हैं। बिना सुखलाभ के यत्न नहीं होता, सुख से ही यत्न होता है, अतएव सुख की ही विशेषरूप से जिज्ञासा होनी चाहिए। नारद ने कहा, भगवन्! मैं सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ।

सनत्कुमार ने कहा—जो भूमा अर्थात् महान् या बृहत् है

वे ही सुख हैं, अल्प वा क्षुद्र में सुख नहीं। भूमा ही सुख है। भूमा ही की विशेष रूप से जिज्ञासा होनी चाहिए। नारद ने कहा—भगवन् मैं भूमा को ही विशेष रूपसे जिज्ञासा करता हूँ।

जिस के दर्शन श्रवण मनन या विज्ञान से और कुछ द्रष्टव्य, श्रोतव्य तथा विज्ञातव्य नहीं रह जाता वही भूमा है और जिस के दर्शन श्रवण तथा विज्ञान से और भी द्रष्टव्य श्रोतव्य तथा विज्ञातव्य रह जाता है वह अल्प है, वह क्षुद्र है। जो भूमा है वह अमृत है, और जो अल्प है, वह मर्त्य है। नारद ने कहा—भगवन्! ये भूमा किस में प्रतिष्ठित हैं। सनत्कुमार ने कहा—भूमा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। भूमा की महिमा और भूमा एक ही वस्तु है। महिमा में और भूमा में भेद नहीं है। इस कारण भूमा महिमा में ही प्रतिष्ठित है, ऐसा कहने में भी दोष नहीं होता।

इस लोक में महिमा और महिमाशाली दोनों परस्पर भिन्न होते हैं। जो अश्व, हस्ति, हिरण, दास, भार्या, क्षेत्र और भवन आदि लोक की महिमा कहे जाते हैं। लोक इस गो अश्व आदि महिमा से भिन्न है। मेरी भूमा और उस की भूमा इस प्रकार यहाँ परस्पर भेद व्यवहार नहीं होता। इस लोक में एक वस्तु दूसरी वस्तु में प्रतिष्ठित होती है। उस प्रकार भूमा अपने से भिन्न महिमा में प्रतिष्ठित नहीं है, किन्तु स्वरूप भूत महिमा में ही स्थित है।

वेही नीचे, वेही ऊपर, वेही पीछे, वेही आगे, वेही दहिने, वेही बायें, वेही समस्त हैं। इस कारण "अहं" शब्द के द्वारा वेही बायें, वेही समस्त हैं। इस कारण "अहं" शब्द के द्वारा ही कहे जाते हैं। मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दहिने, मैं ही बायें, मैं ही समस्त हूँ।

भूमा आत्मा भी कहा जाता है, आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही आगे, आत्मा ही दहिने, आत्मा ही बायें और आत्मा ही समस्त है। इस भूमा पुरुष को इस प्रकार दर्शन, मनन और अनुभव करने से मनुष्य आत्म-प्रेमी, आत्मा में क्रीड़ाशील, आत्ममिथुन, आत्मानन्द और स्वप्रकाश होता है। यह सब लोगों में स्वच्छन्दतापूर्वक गमन कर सकता है। जो इस भूमा को इस प्रकार न देख कर दूसरे प्रकार से देखते हैं, वे दूसरे के अधीन होते हैं, क्षय होने वाले लोक प्राप्त करते हैं और सब लोकों में स्वच्छन्द गति नहीं पा सकते।

जो भूमा पुरुष का इस प्रकार दर्शन, मनन और अनुभव करते हैं वे आत्मा में ही प्राण, आशा, स्मरण, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्नबल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मन्त्र और कर्म आदि समस्त का अनुभव करते हैं।

आत्मदर्शी, मृत्यु, रोग, दुःख प्रभृति का दर्शन नहीं करते। वे सर्वदर्शी और सर्वसम्पन्न होते हैं। वे आत्मस्वरूप से एक हैं। तेज अन्न और जल के द्वारा तीन हैं, शब्द आदि विषयों के द्वारा पाँच, धातु द्वारा सात, इन्द्रिय गोलक द्वारा नौ, इन्द्रियद्वारा ग्यारह, इन्द्रियवृत्तियों के द्वारा ग्यारह सौ, दर्शन-इन्द्रियों की शुभाशुभ वासना द्वारा बीस हजार होते हैं। इनका आहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण के शुद्ध होने पर अविच्छिन्न स्मृति प्राप्त होती है। स्मृति होने पर अविद्या काम-कर्म आदि की ग्रन्थि टूट जाती है। इस प्रकार जिनकी विषय-वासना निर्मूल हो जाती है, भगवान् सनत्कुमार उस को

अज्ञान का पार दिखाते हैं। इस कारण उन का एक दूसरा नाम स्कन्द कहा जाता है।

महर्षि वशिष्ठ

महर्षि वशिष्ठ बड़े ऊँचे ज्ञानी, तपस्वी और विद्वान् थे। उनका जन्म स्वायम्भुव मन्वतर में हुआ था। ब्रह्मा के दस मानस पुत्रों में से एक ये भी थे। कहते हैं कि महादेव के शाप से ब्रह्मा के इन दश मानस पुत्रों का नाश हो गया था। अतएव वैवस्वत मन्वन्तर में ब्रह्मदेव ने पुनः दस मानस पुत्रों की सृष्टि की। उन में एक पुत्र का नाम वशिष्ठ था। वशिष्ठ बड़ेही ज्ञानी थे। कर्मकाण्ड के बड़े भारी पण्डित थे। सूर्य्यवंशी इक्ष्वाकुकुल के राजाओं ने इन्हें अपना कुलगुरु बनाया था। अक्षमाला नाम की स्त्री के साथ इनका ब्याह हुआ था। राजा निमि ने जितने यज्ञ किये उन सब यज्ञों में आचार्य का पद वशिष्ठ को ही मिला था। एक बार वशिष्ठ इन्द्र के यहाँ यज्ञ करा रहे थे। इसी समय निमि भी यज्ञ करने के लिए प्रस्तुत हुए। राजा ने वशिष्ठ के यहाँ यह खबर भेजी। वशिष्ठ ने कहवाया कि आप ठहरिये, मैं यज्ञ समाप्त करा कर आता हूँ। पर निमिने वैसा नहीं किया। इन्हों ने गौतम ऋषि को बुलाया और उन्हें आचार्य बना कर यज्ञ करना प्रारम्भ किया। यज्ञ समाप्त होने पर वशिष्ठ जी राजा के यहाँ गये, आकर इन्होंने देखा कि यज्ञ प्रारम्भ है। वशिष्ठ को बड़ा क्रोध आया। उन्होंने राजा को शाप दिया कि तुम्हारी मृत्यु हो। राजा ने भी वशिष्ठ को मरने का शाप दिया।

इस अप्रिय घटना से लोगों को बड़ा कष्ट हुआ। ब्रह्मा भी बहुत दुःखी हुए। ब्रह्मा ने वशिष्ठदेव को पुनः उत्पन्न करने का विचार किया। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने मित्रावरुण ऋषि के यहाँ वशिष्ठ के जन्म लेने की व्यवस्था की। वशिष्ठदेव का यह तीसरा जन्म हुआ। अरुन्धती नाम की ऋषि कन्या से इनका ब्याह हुआ था। ये पति, पत्नी उस समय ऊँचे ज्ञानी थे। वसिष्ठ जी अपनी तपस्या के कारण प्रसिद्ध थे और अरुन्धती की प्रसिद्धि इनके पातिव्रत्य के कारण थी। अरुन्धती का शास्त्रज्ञान भी अगाध था। कहा जाता है कि अरुन्धती ने वेदों के भाष्य बनाये थे। पर इस समय वे भाष्य अप्राप्य हैं। वसिष्ठ ने ही अरुन्धती को ज्ञानसम्पन्न बनाया था। वसिष्ठ जी के अरुन्धती के गर्भ से शक्ति आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे। इनका आश्रम हिमालय के शिखर पर था। वहीं ये अपने शिष्यों तथा कुटुम्ब के साथ रहते थे। विद्याध्ययन के लिए अनेक ऋषि राजा और राजपुत्र आदि इनके यहाँ आते थे। वसिष्ठ अपने समय के विख्यात पण्डित थे।

वशिष्ठ के पास एक अद्भुत गौ थी। वह कामधेनु की कन्या थी; उस का नाम नन्दिनी था। कामधेनु गौ का ऐसा प्रभाव होता है कि वह समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है। वशिष्ठ जी भी समय समय पर उस अपनी नन्दिनी गौ से अपनी इच्छा की पूर्ति करलिया करते थे। वशिष्ठदेव के आश्रम पर जब कोई प्रख्यात अतिथि आता था तब वे अथिति सेवा का भार उसी गौ के जिम्मे कर देते थे। एक बार राजा गाधी के पुत्र राजा विश्वामित्र वशिष्ठ के आश्रम में आये। ये

कान्यकुब्ज के राजा थे, इन के साथ अनेक सैनिक तथा राज-कर्मचारी थे। वशिष्ठ ने इन के सत्कार का भार नन्दिनी को सौंपा। नन्दिनी ने अपने प्रभाव से उनलोगों का उत्तम सत्कार किया। राजा विश्वामित्र को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे इस बात का विचार करने लगे कि महर्षि को ये वस्तु कहाँ मिली। इस छोटी सी कुटिया में इन्होंने कैसे और कहाँ से ये चीजें सजा रखी हैं। राजा ने पता लगाया। राजा को मालूम हुआ कि महर्षि के पास एक गौ है जिस के प्रभाव से ये सब वस्तु उन्हें अनायास मिल जाती हैं। राजाने ऋषि से कहवाया कि नन्दिनी नाम की गौ आप हमें देदें, यह राजाओं के पास रहने लायक है। इस के बदले में जितनी गौ आप कहें मैं लाकर दूँ। ऋषि ने कहा—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। इस के दूध से याग यज्ञ आदि किया करते हैं, उस के बिना मेरी सब क्रियाएँ लुप्त हो जायँगी। तब राजा जबरदस्ती गौ ले जाने के लिए तैयार हुए। उन्होंने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि जबरदस्ती इस गौ को ले चलो, नौकरों ने अपने राजा की आज्ञा का पालन किया।

मालूम नहीं दूसरों की वस्तुओं पर राजाओं को अधिकार कहाँ से मिला, साधारण लोगों की समझ है और सदाचार-शास्त्र का यह नियम है कि किसी की वस्तु न ली जाय। दूसरे की वस्तु लेना पाप है, अपराध है। राजा लोग भी इस बात को न समझते हों सो बात नहीं है। अपराधियों को दण्ड देना राजा का प्रधान कर्तव्य है। चोरी करना अपराध है। यदि वशिष्ठ की गौ कोई दूसरा चुरा कर ले जाता और वह पकड़ कर राजा विश्वामित्र के न्यायालय में उपस्थित किया

जाता, तो अवश्य ही येही विश्वामित्र उसे अपराधी बताते और उसे दण्ड भी देते। पर न मालूम क्यों, किस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार इन्होंने महर्षि की गौ छीनना निश्चित किया। राजा के पास सेना थी, अस्त्र शस्त्र थे। साधारण लोग इन बातों से डर जाते हैं, पर वशिष्ठ के पास सेना न थी, अस्त्र शस्त्र न थे, तथापि वे दुर्बल न थे, उनके पास ब्रह्मबल था, ब्रह्मबल के द्वारा उन्होंने विश्वामित्र की सेना का बल स्तम्भित कर दिया। राजा ने बहुत प्रयत्न किया, पर ऋषिबलके सामने उनका राजबल कोई काम न आया। राजा का मनोरथ पूरा न हो सका। वे हार गये। हार बड़ी बुरी होती है। निर्बल मनुष्य हार होने पर प्राणघात करके हार के दुःख से छुटकारा पाता है और सबल मनुष्य हार कर बदला लेने के लिए शक्ति-सञ्चय करता है, बल सञ्चय करता है। विश्वामित्र दुर्बल न थे, वे बलवान् राजा थे, इन्होंने अपनी हार पर विचार किया। विचार करने से इन्हें मालूम हुआ कि क्षत्रियबल से ब्रह्मबल बड़ा है। अतएव इन्हों ने धिक्कार के साथ क्षत्रियबल को पुकारा और ब्रह्मबल की प्रशंसा की—"धिग् बलं क्षत्रियबलं, ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।"

राजा विश्वामित्र अब महर्षि विश्वामित्र होने के लिए प्रयत्न करने लगे, इन्हों ने राज्य छोड़ा, राजसी सुख-विलास से मुह मोड़ा, हिमालय के बन में ये तपस्या करने चले गये। विश्वामित्र को गहरी लगन थी अपने उद्देश्य सिद्धि से। इन्हों ने घोर तपस्या की। तपस्या से देवता प्रसन्न हुए। देवताओं नें आकर विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि का पद दिया।

विश्वामित्र प्रसन्न हुए । देवताओंने कहा—ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ! अब आप को ब्रह्मर्षि मण्डल में मिलने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जबतक ब्रह्मर्षि मण्डल आप को ब्रह्मर्षि न मानेगा; तब तक हमलोगों की ओरसे ब्रह्मर्षि हो कर भी आप ब्रह्मर्षि न हो सकेंगे । यह नीति की बात विश्वामित्र की समझ में आगयी । वे वशिष्ठ के पास गये, क्योंकि वशिष्ठ ही उस समय ब्रह्मर्षि मण्डल के प्रधान थे । वशिष्ठ के पास विश्वामित्र जब पहुँचे तब उन के हृदय में अपने जीत जाने का अहङ्कार था । अहङ्कार ब्रह्मर्षियों के लिए कितना घातक है, वह उन्हें कितना नीचे गिरानेवाला होता है, इस की खबर भी विश्वामित्र को शायद न थी । विश्वामित्र को उस रूप में देखकर वशिष्ठ ने कहा—आइए राजर्षिजी ! हाय गजब हो गया, विश्वामित्र ने समझा था कि अब हम को वशिष्ठ आदर की दृष्टि से देखेंगे और ब्रह्मर्षि कहेंगे, उस समय हम को भी अपनी विजय पर गर्व करने का अवसर मिलेगा; पर वशिष्ठ के पास आनेपर और उनके द्वारा राजर्षिजी के नाम से सम्बोधित होने पर विश्वामित्र की जैसी दशा हुई होगी, भगवान् करे वैसी दशा किसी की न हो । विश्वामित्र क्रोध से अधीर हो गये; वे वहाँ से पैर पटकते चले गये ।

वशिष्ठ और विश्वामित्र का सम्बन्ध इस घटना के पश्चात् दूसरे रूप में हो गया । पहले विश्वामित्र अपने को वशिष्ठ से छोटा समझते थे, पहले उन्हें अपने क्षत्रियबल की हीनता का दुःख था, पर इस घटना से वह भाव नहीं रहा । अब विश्वामित्र अपने को वशिष्ठ से किसी तरह

कम नहीं समझते थे, अब उन्हें अपनी हीनता का अनुभव नहीं होता था, किन्तु वे अपने को भी ब्रह्मर्षि समझते थे, और वशिष्ठ को भी। देवताओं ने विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि का पद दे दिया, पर अब वशिष्ठ उस में बाधक हो रहे हैं। यह सोचकर ये वशिष्ठ से द्वेष करने लगे। उन्हें नीचा दिखाने को तरह तरह का प्रयत्न करने लगे। संयोगवश एक अवसर भी मिल गया। अयोध्याके राजा त्रिशंकु थे। ये बड़े धर्मात्मा राजा थे, इसी शरीर से स्वर्ग देखने की इनकी इच्छा हुई। ये अपने कुलगुरु वशिष्ठ जी के यहाँ गये और अपना मनोरथ इन्हों ने निवेदन किया। राजा ने गुरु से कहा था कि महाराज कोई ऐसा याग-यज्ञ बतलाइए, कोई ऐसी क्रिया बतलाइए, या आप ही कोई ऐसा अनुष्ठान कीजिए, जिस से मैं इसी देह से स्वर्ग जासकूँ। वशिष्ठ ने उत्तर दिया, भाई ! ऐसा कोई उपाय नहीं और न कोई ऐसा याग-यज्ञ ही हमें मालूम है जिस से इसी शरीर से तुम स्वर्ग जा सको। राजा वहाँ से चले गये, पर स्वर्ग देखने की उन की इच्छा बड़ी प्रबल थी। ये वशिष्ठजी के पुत्रों के पास गये। वशिष्ठ के पुत्रों ने राजा का अभिप्राय सुना और उन लोगों ने यह भी सुना कि गुरु ने इस प्रकार के उपाय के लिए नहीं कहा है। इस से उन लोगों को क्रोध आया। उनलोगों ने कहा—गुरु की बातों पर तुम्हारा विश्वास नहीं, तुम्हारा यह आचरण म्लेच्छों के समान है, अतएव तुम म्लेच्छ हो जाओ। राजा इससे बड़ा दुःखी हुआ। वह अपने घर लौट गया। विश्वामित्र कोई अवसर ढूँढ़ रहे थे। त्रिशंकु और वशिष्ठ के सम्बन्ध में जो बातें हुईं, उनकी खबर पातेही विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि बड़ा

अच्छा अवसर मिला। इससे कुछ लाभ उठाना चाहिए। वे त्रिशंकु से मिले और यज्ञ कराया, इसी शरीर से स्वर्ग भेजने का वादा किया। राजा भी तैयार हो गया। एक तो, स्वर्ग जाने की उस की प्रबल इच्छा थी ही, दूसरे तो वशिष्ठ पर उस का क्रोध हो गया था; इस कारण वह चाहता था कि यदि ऐसा कोई मिल जाय जो मुझे यज्ञ कराकर स्वर्ग भेज सके तो अच्छा, इस से एक तो मेरी इच्छा पूरी होगी, दूसरे वशिष्ठ का अभिमान चूर होगा। यही सोचकर विश्वामित्र के कथनानुसार यज्ञ करने के लिए राजा भी तैयार हो गया। सब सामग्रियाँ तैयार की गयीं, यथासमय यज्ञ प्रारम्भ हुआ। देवताओं का यज्ञ में आने के लिए आवाहन किया गया, पर देवता न आये। उन लोगों ने कहा—जिस यज्ञ में यजमान म्लेच्छ है और आचार्य क्षत्रिय है, उस यज्ञ में हम लोग न जायँगे। देवताओं की इस बात से विश्वामित्र का क्रोध और बढ़ गया। उन्हों ने कहा—देवता भी वशिष्ठ की तरफदारी करते हैं? अच्छा, देखा जायगा। उन्हों ने यज्ञ किसी किसी तरह समाप्त किया, पर इस यज्ञ समाप्ति से त्रिशंकु भले ही प्रसन्न हो जायँ, विश्वामित्र भले ही अपने आचार्य बनने का गर्व कर लें, पर सच्ची बात यह है कि यज्ञ हुआ ही नहीं, फिर उसकी समाप्ति कैसी? यज्ञ किया जाता है देवताओं के लिए, पर यहाँ देवता तो आये ही नहीं, फिर काहे का यज्ञ और कैसी समाप्ति? अब बात रही त्रिशंकु के इसी शरीर से स्वर्ग जाने की। सो त्रिशंकु को अपना तपोबल देकर विश्वामित्र ने स्वर्ग भेजा। पर देवताओं ने उन्हें स्वर्ग में आने न दिया त्रिशंकु को म्लेच्छ समझ कर देवताओं ने स्वर्ग से ढकेल दिया।

त्रिशंकु नीचे गिरने लगे, उन्हों ने वहीं से चिल्ला कर कहा—महाराज विश्वमित्र जी! ये लोग तो मुझे जाने ही नहीं देते, इन्हों ने मुझे ढकेल दिया, मैं नीचे गिरता हूँ। विश्वामित्र ने हुंकार कर के कहा कि नहीं, वहीं ठहरो। अब त्रिशंकु बड़ी विपत में फँसे, देवता ऊपर जाने नहीं देते और विश्वामित्र नीचे गिरने नहीं देते, इस कारण त्रिशंकु को इसी शरीर से बीच में ही लटकना पड़ा।

इस झगड़े में भी विश्वामित्र को नीचा देखना पड़ा, इससे उनका क्रोध और बढ़ा। यह कहना झूठ नहीं है कि इस क्रोध से विश्वामित्र पागल हो गये। हर प्रकार से वशिष्ठ का विरोध करना इन्होंने निश्चय कर लिया। उचित और अनुचित पर इनका ध्यान जाता रहा। जो वशिष्ठ करें उस से उलटा करना, जो वशिष्ठ कहें उससे उलटा कहना, विश्वमित्र की यही नीति हुई। सत्यव्रत राजा हरिश्चन्द्र प्रसिद्ध धर्मात्मा थे। उन्होंने एक यज्ञ किया, वशिष्ठ उस यज्ञ के आचार्य थे। यज्ञ समाप्त होने पर वशिष्ठ घर जाते थे, रास्ते में विश्वामित्र मिले, विश्वामित्र ने पूछा—आप कहाँ से आ रहे हैं, वशिष्ठ ने इस प्रश्न के उत्तर में हरिश्चन्द्र के यज्ञ की बात कही और साथ ही हरिश्चन्द्र की प्रशंसा भी की। विश्वामित्र ने कहा—तुम झूठ कहते हो, वह राजा तो बड़ा दाम्भिक है, झूठा है। वशिष्ठ चुप हो गये। विश्वामित्र ने कहा—अच्छा, देखो, मैं उस की असत्यवादिता सिद्ध कर देता हूँ। यह कह कर विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के पीछे पड़ गये, हरिश्चन्द्र को कष्ट देने के लिए इन्होंने तपस्या की, तरह तरह के उपाय किये, हरिश्चन्द्र को कष्ट देने को विश्वामित्र ने स्वयं कितने कष्ट

उठाये। ये बातें हरिश्चन्द्र की जीवनघटनाओं को जाननेवालों को मालूम हैं। पर इस सम्बन्ध में भी विश्वामित्र को नीचा देखना पड़ा। इस से विश्वामित्र का क्रोध और बढ़ा। उन्होंने एक राक्षस को ललकारा देकर वशिष्ठ के सौ लड़कों को मरवा डाला। इस से वशिष्ठ को दुःख हुआ ही, पर उन का मत न बदला, उन्होंने विश्वामित्र को तब भी ब्रह्मर्षि-पद के योग्य न समझा। बातभी ठीक थी, इतना ऊधम मचाने वाला, बात बात पर क्रोध करनेवाला, बच्चों को मारनेवाला, कहीं ब्रह्मर्षि हो सकता है?

वशिष्ठ का विश्वामित्र से कोई द्वेष न था, वे ज्ञानी महात्मा थे। वे जानते थे कि विश्वमित्र तपस्वी अवश्य है, पर उस के मन में सात्विक भाव उत्पन्न नहीं हुए हैं। ब्रह्मर्षि होने के लिए सत्य-सम्पन्न होना आवश्यक है। जिस का मन ईर्ष्या-द्वेष से घिरा हुआ है, जो बदला लेने के लिये व्याकुल हो रहा है, जो क्रोध के वशीभूत होकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान भूल जाता है, वह ब्रह्मर्षि कैसे हो सकता है, और उसे कोई जिम्मेदार मनुष्य ब्रह्मर्षि कह भी कैसे सकता है। वशिष्ठ को कुछ भय तो था नहीं, फिर वे झूठी बात क्यों कहें; अतएव वशिष्ठके ब्रह्मर्षि न कहने पर विश्वामित्र और क्रोध करते जाते थे विश्वामित्र ने असली बात का विचार न किया। वशिष्ठ ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते, इस का ठीक ठीक पता उन्हों ने नहीं लगाया। इस विषय में उन्हों ने जो कुछ सोचा भी तो उलटा ही समझा, जिस से उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े और उनको कई बार स्वयं नीचा देखना पड़ा। बार बार हार खाने से विश्वामित्र और अधीर हो गये। उन्होंने

अपनी रही सही सुधबुध खो दी। एक दिन उन्हों ने निश्चय किया कि आज वशिष्ठ को मार कर हम इस झगड़े का अन्तही कर दें। वशिष्ठ ही न हमारे ब्रह्मर्षि होने में बाधा दे रहा है, जब यह रहेहीगा नहीं, तो फिर बाधा कौन डालेगा, और हमारे ब्रह्मर्षि होने में भी कोई सन्देह नहीं रह जायगा क्योंकि ब्रह्मा आदि ने ते हमें ब्रह्मर्षि कह ही दिया। यह विचार कर वशिष्ठ को मारने के लिए रात में छिप कर चले। स्वार्थ का बावला कितना अन्धा होता है? देखिए, विश्वामित्र ब्रह्महत्या करके ब्रह्मर्षि होना चाहते हैं। जिस मनुष्य के हृदय में साधारण हत्या नहीं, किन्तु ब्रह्महत्या करने का राक्षसी विचार उठ सकता है, वह भी ब्रह्मर्षि बनना चाहता है?

रात्रि हो गयी थी, वशिष्ठ जी नित्यकर्म से निवृत्त होकर शयन करने का उपक्रम कर रहे थे। अरुन्धती उन के पास बैठी थी। पूर्णिमा तिथि थी। चन्द्रमा का प्रकाश बड़ा ही सुन्दर मालूम पड़ता था। अरुन्धती ने वशिष्ठजी से कहा—महाराज! देखिए, चन्द्रमा का प्रकाश कितना शीतल और भला मालूम होता है। अच्छा, महाराज! कहिए,क्या आजकल कोई ऐसा तपस्वी है जिस की तपस्या का प्रकाश इस चन्द्रप्रकाश के समान मनोहर हो, शीतल हो? वशिष्ठ ने कहा—हाँ, वैसे तपस्वी विश्वामित्र हैं। इस समय विश्वामित्र के समान तपस्वी मेरी समझ से तो दूसरा कोई नहीं है। अरुन्धती ने कहा—महाराज! जब ऐसी बात है तब आप उन्हें ब्रह्मर्षि क्यों नहीं कहते? वशिष्ठ ने कहा—कि उन के हृदय में क्षात्रभाव वर्तमान है। अभी उन के मन में रजोगुण की मात्रा अवशिष्ट है, ब्रह्मर्षि होने के लिए मन को सात्विक बनाने की आवश्यकता है। कुटी

के भीतर ये बातें हो रही थीं; और कुटी के बाहर एक आदमी बैठा था जो वशिष्ठ को मारना चाहता था। महर्षि वशिष्ठ अपने घर में बैठ कर जिस की प्रशंसा कर रहे हैं, वही वशिष्ठ की कुटीके बाहर बैठ कर उन को मारने की तैयारी कर रहा है। इन दोनों प्रति द्वन्दियों में कितना अन्तर है! अवश्य ही ये दोनों एक लोक के जीव नहीं।

विश्वामित्र ने वशिष्ठ की सब बातें सुनीं। उन का अज्ञान दूर हुआ। सत्य के प्रकाश में उन्हें अपने स्वरूप का परिचय प्राप्त हुआ। उन्हों ने अपने मन में कहा—कहाँ वशिष्ठ और कहाँ मैं? मैं ब्रह्महत्या करने जारहा हूँ, और वे क्षमा की मूर्त्ति अपने सौ पुत्रों के मारे जाने का शोक भूल कर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। मैं तो नरक में पड़ने जारहा हूँ, धिक्कार है मुझको! भला मेरे समान उपद्रवी मनुष्य कहीं ब्रह्मर्षि हो सकता है? इस प्रकार सोच विचार कर विश्वामित्र ने अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये। वे वहाँ से उठकर वशिष्ठ के पास गये और उन्हों ने वशिष्ठ को प्रणाम किया। वशिष्ठ ने कहा—आइए ब्रह्मर्षि विश्वामित्र जी! विश्वामित्र को बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही आनन्द भी। इतने दिनों से जिस ब्रह्मर्षि पद के पाने के लिए वे लालायित थे वह आज प्राप्त हो गया। ब्रह्मा के देने पर जो ब्रह्मर्षि पद विश्वामित्र को प्राप्त न हो सका था, उस का सहसा प्राप्त हो जाना विश्वामित्र के लिए कुछ कम सन्तोष की बात नहीं है। विश्वामित्र ने हाथ जोड़ कर पूछा—'महाराज! आज तक आपने हमें ब्रह्मर्षि नहीं कहा था, पर आज कहा, इसका कारण क्या है? वशिष्ठ ने कहा—आज तक आप के हृदय से राजसी भाव दूर नहीं हुए थे, आज तक आप के हाथों में अस्त्र वर्तमान थे।

इस लिए आज के पहले मैं आप को ब्रह्मर्षि नहीं कहता था, पर आज वह बात नहीं है, आज आप के हृदय में सत्व गुण का विकाश हुआ है, आज आप के हाथों से अस्त्र दूर हो गये हैं, आप का हृदय शुद्ध हो गया है, आज ब्रह्मर्षि के योग्य भाव आप के हृदय में उत्पन्न हो गये हैं। अब मुझे आप को ब्रह्मर्षि कहने में कोई अड़चन नहीं। इस प्रकार दोनों का द्वेष दूर हो गया।

अब वशिष्ठ और विश्वामित्र में मैत्री हो गयी। कभी कभी वशिष्ठ विश्वामित्र के आश्रम में चले जाते थे और कभी विश्वामित्र वशिष्ठ के आश्रम में आ जाया करते थे। इस प्रकार दोनों में स्नेह का वर्ताव होने लगा। एक बार वशिष्ठ जी विश्वामित्र के आश्रम में गये। वशिष्ठ को विश्वामित्र ने बड़ा सत्कार किया, और अपने हजार वर्ष की तपस्या का फल वशिष्ठ को दिया। इस प्रकार आदर सत्कार के साथ कुछ दिनों तक विश्वामित्र के आश्रम में रह कर अपने आश्रम में लौट आये। जब विश्वामित्र वशिष्ठ के आश्रम में आये तब उन्हों ने भी विश्वामित्र का बड़ा सत्कार किया, और "एक घड़ी के सत्सङ्ग का फल" उन्होने विश्वामित्र को दिया। वशिष्ठ जी का यह आचरण विश्वामित्र को अच्छा न लगा, उन को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मनही मन सोचने लगे, क्या वशिष्ठ जी इतने कृपण हैं? मैंने तो एक हजार वर्ष की तपस्या का फल इन्हें दिया और ये मुझे एक घड़ी के सत्सङ्ग का फल देते हैं। क्या इनकी समझ में ये दोनों बराबर हैं? विश्वामित्र के हृदय के भाव वशिष्ठ समझ गये। उन्होंने कहा—इस विषय में आपको सन्देह नहीं करना चाहिये, यदि

आप का सन्देह हो तो चलिए कहीं इस का हमलोग निर्णय करालें। दोनों सत्यलोक में शेष जी के पास गये। शेषजी ने दोनों की बात सुनली, तब उन्होंने विश्वामित्र से कहा—आप अपने हजार वर्ष की तपस्या का फल पृथ्वी में देकर उसे एक बित्ता ऊपर उठा लीजिए। विश्वामित्र ने वैसाही किया, पर पृथ्वी जहाँ की तहाँ रही, वह एक इञ्च भी न डिगी; तब शेष ने वशिष्ठ से कहा—कि आप अपने एक घड़ी के सत्सङ्ग का फल देकर पृथ्वी को एक बित्ता ऊपर उठाइए। वशिष्ठ ने वैसाही किया, और सबके देखते देखते पृथिवी एक बित्ता ऊपर उठ गयी। यह देख कर विश्वामित्र के हृदय के सभी सन्देह दूर हो गये, उन्होंने वशिष्ठजी को प्रणाम किया और अपने आश्रम पर गये, वशिष्ठ जी भी अपने आश्रम पर गये।

सभी चाहते हैं कि अच्छी चीज़ हमारे ही पास रहे। इसी लिये जिस के पास अच्छी चीज़ होती है, वह यदि बलवान् हुआ तब तो कोई चिन्ता नहीं, यदि दुर्बल हुआ तो वह सदा सशङ्कित बना रहता है, वह अपनी चीज छिपाये रहता है कि कोई देख न ले। वशिष्ठ के पास नन्दिनी नाम की एक गौ थी; वह अद्भुत गौ थी, सभी उसको चाहते थे। पर वशिष्ठ को उस के लिये कोई चिन्ता नहीं थी, वे उस को छिपाये नहीं रहते थे, क्योंकि वे उस की रक्षा करने की शक्ति रखते थे। एक दिन वशिष्ठ जी आश्रम पर नहीं थे, वे कहीं गये हुए थे। उन की अनुपस्थिति में अष्ट वसुगण आश्रम में आये और नन्दिनी को चुरा कर चले गये। जब वशिष्ठ जी अपने आश्रम पर लौट आये तब इन को मालूम हुआ कि नन्दिनी नहीं है, कोई उसे लेगया। वशिष्ठ जी बड़े चिन्तित हुए, उन्होंने नन्दिनी

के ले जानेवालों को शाप दिया। वशिष्ठ जी के शाप से वसुगण व्याकुल हुए और वे लोग दौड़े दौड़े वशिष्ठ जी के पास आये। नन्दिनी वशिष्ठ जी को सौंप कर उन लोगों ने अपने अपराधों की क्षमा माँगी, वशिष्ठ जी को दया आई और उन्होंने वसुओं को शापमुक्त कर दिया।

देवताओं में भी वशिष्ठ की प्रतिष्ठा थी, यह बात नीचे लिखी घटना से सिद्ध होती है। सुदास नाम के एक राजा वशिष्ठ के यजमान थे। एक बार सुदास पर दस राजाओं ने साथ ही चढ़ाई की, सुदास इतने प्रबल आक्रमण को सम्भाल न सका, उसने वशिष्ठ जी से अपनी रक्षा की प्रार्थना की। वशिष्ठजी ने इन्द्र की प्रार्थना की और उन से सुदास को सहायता करने के लिये कहा। इन्द्र ने वशिष्ठजी की प्रार्थना स्वीकृत की और सुदास को सहायता देकर उन की रक्षा की। ऋग्वेद में इस बात का उल्लेख है। यह वशिष्ठ के प्रभाव का प्रमाण है।

वशिष्ठजी राजा दशरथ के भी पुरोहित थे और उन की राजसभा के सदस्य भी थे। एक प्रकार से वे इस वंश के प्रधान मन्त्री थे। ऐसा कोई बड़ा काम नहीं हुआ जो इन से बिना पूछे किया गया हो। पुत्रेष्टि यज्ञ के समय, राम आदि को माँगने के लिए जब विश्वामित्र आये उस समय, वनवास के समय, इस प्रकार ऐसा कोई भी बड़ा काम इस कुल में नहीं हुआ जिस में वशिष्ठजी न हों; वशिष्ठ जी ने राम आदि को विद्याएँ पढ़ाई थीं; उन्हें राजनीति की शिक्षा दी; रामचन्द्र का राज्याभिषेक किया।

'योगवाशिष्ठ' नाम की एक वेदान्त की पुस्तक वशिष्ठ के नाम से प्रसिद्ध है । कहा जाता है कि यह ग्रन्थ वशिष्ठ का बनाया है, रामचन्द्र को जब मोह होगया था तब वशिष्ठ ने उन्हें उपदेश दिया था और वही उपदेश 'योगवाशिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है । पर यह बात प्रामाणिक नहीं है । 'वशिष्ठस्मृति' और 'वशिष्ठसंहिता' नामक ग्रन्थ वशिष्ठ के बनाये हैं । इनके बनाये ग्रन्थों में धर्म, नीति, तप आदि की महिमा का वर्णन है । वशिष्ठ कई सम्प्रदायों के आचार्य समझे जाते हैं। कहते हैं कि सनकादि ने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की थी वशिष्ठ ने उसी का पुनरुद्धार किया था।

यह बात तो लिखी ही जा चुकी है कि विश्वामित्र के क्रोध में पड़ कर वशिष्ठ के सौ पुत्र भस्म हो गये थे। इस से वशिष्ठ को बड़ा दुःख हुआ और ये प्राणत्याग करने के लिए नदी में कूद पड़े; पर नदी ने इन्हें ग्रहण नहीं किया। ये नदी से जीते-जागते निकले । तब वशिष्ठ पर्वत के शिखर से कूदने के लिए चले । उसी समय इन्हें वेदध्वनि सुनायी पड़ी और वह ध्वनि शक्ति की ध्वनि के समान थी। इन्होंने पीछे फिर कर देखा कि इन की पुत्रवधू शक्ति की स्त्री आरही है। शक्ति की स्त्री ने कहा—आप अधीर क्यों होते हैं, आप के वंश की रक्षा करनेवाला गर्भ वर्तमान है, यह सुन कर वशिष्ठजी ने प्राणघात करने का विचार छोड़ दिया। उसी गर्भ से शक्ति के पुत्र पराशर उत्पन्न हुए।

राजा दिलीप को पुत्र नहीं होता था। कामधेनु ने शाप दिया था । राजा अपने गुरु वशिष्ठ जी के पास गये और उन्हों ने अपना दुःख निवेदन किया । वशिष्ठ जी ने योग के

द्वारा राजा के मनोरथ पूर्ण न होने कारण ढूँढ़े, तब उन्होंने कहा, राजन् ! आप से एकबार कामधेनु का अपमान अनजान में हो गया है। इसी से कामधेनु ने आप को शाप दिया है और वही आप के पुत्र न होने का कारण हो रहा है। अतएव आप मेरी इस गौ की सेवा करें, यह कामधेनु की ही कन्या है, उस के प्रसन्न होने से आप के सभी शाप दूर हो जायँगे। राजा दिलीप ने वशिष्ठ के कहने अनुसार काम किया और वे सफलमनोरथ हुए।

वशिष्ठ सप्तर्षिमण्डल के एक प्रधान सदस्य हैं। वशिष्ठ ने इस संसार का बड़ा उपकार किया है। सदा धर्मोपदेश करना, धर्म के अनुसार चलना, धर्म की मर्यादा स्थापन करना, राजाओं को राजधर्म, प्रजाओं को प्रजाकर्त्तव्य बतलाना, इनका मुख्य काम रहा है। ये न तो राजा का अत्याचार देख सकते थे और न प्रजा की अधार्मिकता। ये सब को अपनी अपनी मर्यादा पर डटे रहने का उपदेश दिया करते थे। इन के उपदेशों से न केवल उसी समय के लोगों ने लाभ उठाया; किन्तु आजतक भी वशिष्ठ के उपदेश लोगों का कल्याण कर रहे हैं।

योगिराज याज्ञवल्क्य ।

हम लोग जिस शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा का नाम सुन रहे हैं उस के निर्माणकर्ता महर्षि याज्ञवल्क्य हैं। पुण्य-श्लोक महर्षि याज्ञवल्क्य महाराजा जनक की राजधानी मिथिलापुरीके निवासी थे। उन का जन्म त्रेतायुग में पूज्यवर

वाजसनि नामक महर्षि के घर हुआ था। इन के वंश का विशेष वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् में पाया जाता है, परन्तु यहाँ पर उसके विशेष वर्णन की आवश्यकता न देख, पवित्र कीर्ति महर्षि याज्ञवल्क्य का ही जीवचरित्र, जो कि वेदों के श्रेष्ठ भाग उपनिषद् तथा इतिहासप्रसिद्ध महाभारत में मिलता है, लिखा जाता है।

वाजसनि वंशभूषण महर्षि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं। बड़ी का नाम मैत्रेयी और छोटी का नाम कात्यायनी था। शास्त्रज्ञ होने के कारण दोनों स्त्रियों पर इनकी प्रीति समान रहा करती थी और दोनों स्त्रियाँ भी परस्पर प्रेमपूर्वक रहती थीं। परन्तु मैत्रेयी को कोई सन्तति न थी। अतः उसको संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया, और उसने अपने पति महर्षि याज्ञवल्क्य जी से ज्ञानोपदेश के लिये प्रार्थना की। महर्षि ने उसे उपदेश का पात्र समझ उपदेश दिया। जल में कमल की नाईं गृहस्थाश्रम में रह कर मैत्रेयी पति सेवा करती हुई ब्रह्मध्यान में ही अपना समय बिताने लगी और अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त हुई।

कात्यायनी को, चन्द्रकांत, महामेध और विजय नामक तीन पुत्र हुए। ये तीनों विद्वान् तथा धर्मज्ञ थे। द्वापर में महर्षि याज्ञवल्क्य के यहाँ अनेक शिष्य विद्याध्ययन के लिये रहते थे। उन्हीं शिष्यों में से कात्यायन ऋषि भी थे। यह मेधावी एवं परिश्रमशील थे, अतः महर्षि इन पर बड़े प्रसन्न रहते थे, और उन्हें पुत्रवत् मानते थे। तप, विद्या और गुरुकृपा से इन्हीं महर्षि कात्यायन ने वाजसनेय शाखावालों के श्रौतान्नि कर्म साधनभूत पद्धति के बतलाने वाले सूत्रों तथा १८ परि-

शिष्ट सूत्रों की रचना की है। उन्हीं के नियमानुसार इस समय भी उन के अनुयायी शाखा वालों का श्रुति, स्मृति-विहित कर्म प्रचलित है।

कलियुग के प्रारम्भकाल में महर्षि कात्यायन के शिष्यों के अनुयायी महात्मा पारस्कर नामक ऋषि का जन्म हुआ। ये बड़े विद्वान्, तपस्वी और धार्मिक हुए। इन्हों ने कठिन श्रौतसूत्रों के अर्थ सरल तथा सर्वसाधारण के समझने के लिए (श्रुतियों के अर्थ को लेते हुए) स्मृतिविहित अग्नि-कर्म पद्धति के पथप्रदर्शक सूत्रों की रचना की और उन्हीं के अनुसार आजकल वाजसनेय माध्यंदिनीय शाखावालों के गर्भाधानादि षोडश संस्कार किये जाते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य ब्रह्मर्षि वैशम्पायन के भानजे थे और उन्हीं के यहाँ रह कर वे विद्याध्ययन किया करते थे। होन-हार शिष्य पर गुरु का विशेष प्रेम होना स्वाभाविक बात है। फिर ये तो उनके भानजे ही थे। प्रिय पात्र होने से महात्मा वैशम्पायन ने इनको यजुर्वेद की ऋचाओं का पूर्णरीति से अध्ययन कराया। महर्षि याज्ञवल्क्य पढ़ लिख चुके और सब विद्यार्थियों में श्रेष्ठ माने जाने लगे। कारणवश महर्षि याज्ञवल्क्य ने अध्ययन की हुई ऋचाओं को वमन कर दिया और उन्हीं वमन की हुई ऋचाओं से कृष्ण यजुर्वेद बना। इसका विशेष वर्णन महर्षि महीधर ने अपने शुक्ल-यजुर्वेद भाष्य में निम्नरूप में किया है।

किसी समय सम्पूर्ण ऋषियों ने कुछ आवश्यक कार्य-विषयक विचार करने के लिए सुमेरु पर्वत पर सभा करने का निश्चय कर सब के पास यह सूचना भेज दी, कि अमुक

समय अमुक पर्वत पर आप लोग अवश्य एकत्रित हो कर इस कार्य में योग दें। साथ ही साथ यह भी सूचित कर दिया कि ऐसे लोकोपकारी आवश्यक विचार के समय जो सभा में न आवेगा उसे ब्रह्महत्या का पातक लगेगा।

सूचना पाते ही ऋषिगण अपना २ कार्य कर नियमित समय पर आकर सभा में उपस्थित होने लगे, किन्तु महर्षि याज्ञवल्क्य के गुरु ब्रह्मर्षि वैशम्पायन उस सभा में न पहुँच सके। कारण उस का यह था कि उस दिन उन के पूज्यपिता का श्राद्धदिवस था, और पितृकार्य करना भी वे लोग अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। महात्मा वैशम्पायन उक्त दोनों कार्यों के साधने के लिए उस दिन बहुत शीघ्र उठ बैठे और शौचादि से निवृत्त हो निशिङ्तभा रात्रि के रहते ही गंगास्नान को चल दिये। अन्धेरी रात्रि का अन्धकार इतना अधिक था कि हाथ पसारे भी न सूझता था, परन्तु "यह मार्ग हमारा नित्य का परिचित है" ऐसा सोच वे अनुमान से निकल पड़े। भाग्यवश उस दिन ऐसा हुआ था कि, जब ये लोग अपनी कुटी में सो रहे थे तब कोई अनाथ स्त्री अपने नवजात शिशु को गोद में लिये वहाँ आई और रात्रि विशेष व्यतीत हो जाने के कारण उसी कुटी के एक कोने में बाहर सो गई थी। सोते हुए बालक के ऊपर अचानक इन का पैर पड़ गया और उस के आघात से, सुकुमार बालक का प्राणपखेरू उड़ गया! बालक की माता को जो दुःख हुआ होगा उस का तो वर्णन करना कठिन है, परन्तु बालक की यह दशा देख ऋषि बालहत्या से अवाक् हो क्षण भर स्थाणुवत् निश्चल खड़े रह गये। पश्चात् धैर्यपूर्वक उसे सान्त्वना देकर वे उलटे पैर घर को लौट

आवे और सभा में न पहुँच सके। सभा समाप्त हो गई और अन्यान्य ऋषि इस पर सभा में न उपस्थित होने के कारण बहुत क्रुद्ध हुए। बालहत्या के साथ ही ब्रह्महत्या के घोर पातक से ये अत्यन्त चिन्तित हुए। और उन पापों का प्रायश्चित्त कराने के लिए शिष्यों को बुलाया। गुरु आज्ञा पालन करना शिष्य का प्रथम कर्तव्य है, यह समझ शिष्यों ने उस कार्य को सहर्ष स्वीकार किया। इन्हीं शिष्यवर्गों में महर्षि वैशम्पायन के मुँहलगे भानजे पुष्टशरीर तपस्वी, बुद्धिमान् याज्ञवल्क्य भी थे, इन्हों ने विनयपूर्वक गुरु से कहाः—

भगवन्! इन सब छात्रों की अपेक्षा मैं सर्वथा श्रेष्ठ हूँ। कृश शरीर ये बेचारे छात्र मिल कर भी किसी प्रकार इस प्रायश्चित्त के कराने में समर्थ नहीं हो सकते, और मैं आप की कृपा से इस कार्य को अकेला ही कर सकता हूँ। आप इस की कुछ चिन्ता न करें। यद्यपि याज्ञवल्क्य ने यह बात शुद्ध हृदय से कही थी, परन्तु फिर भी योगवश महर्षि वैशम्पायन को उन के वे अन्य के लिए अपमान जनक वाक्य, सहन न हो सके। "याज्ञवल्क्य बड़ा ही धृष्ट है, जो जी में आता है बक देता है, पहले भी एक बार इस ने हमारी आज्ञा का उल्लंघन तथा अन्य ऋषियों का तिरस्कार किया है; अतः इसे अवश्य दण्ड देना चाहिए। केवल दण्ड ही नहीं, प्रत्युत ऐसे शिष्य को विद्या ही न पढ़ाना चाहिए। ऐसा कह महर्षि क्रोधित हो कर याज्ञवल्क्य से बोले, अरे! कटुवादी याज्ञवल्क्य!! तू मेरा भाजन एवं प्रिय शिष्य है। इसी कारण मैं ने बार बार तेरा अपराध क्षमा किया है। तू उद्दण्डता से ब्राह्मणों का अपमान करता है; एवं अपनी विद्या और बलबुद्धि पर इतना गर्व

करता है। दर्पपूर्ण वचन बोलनेवाले दूसरों का अपमान करने-वाले शिष्य को विद्या, विशेषतः ब्रह्मविद्या, पढ़ाना सर्वथा अनुचित है। इसलिए तू हम से पढ़ी हुई यजुः शाखा की ऋचाओं को हमें लौटा दे और जहाँ तेरी इच्छा हो चला जा। मैं अपने यहाँ तेरा रहना और तुझे विद्या पढ़ाना किसी प्रकार उचित नहीं समझता !!!

पढ़ीहुई विद्या का लौटा देना बड़ी कठिन बात है। गुरु वैशम्पायन के ये कठोर वाक्य याज्ञवल्क्य के हृदय में बाणसदृश लगे, किन्तु उन्हें यह अटल विश्वास था कि मैं इस सम्बन्ध में सर्वथा निर्दोष हूँ। अतः उस का मुँह क्रोध से लाल हो गया, निर्भीक होकर वैशम्पायन से पढ़ी हुई यजुः शाखा की ऋचाएँ (त्याग करने का कोई अन्य उपाय न देख) योगबल से वमन द्वारा उन्हों ने त्याग दी।

ईर्ष्या-द्वेष का प्रभुत्व संसार में पहले ही से चला आता है। याज्ञवल्क्य की बुद्धि की प्रखरता से अन्यछात्र बहुधा इन से द्वेष रखते थे। गुरु को क्रोधित देख समय पाकर उन शिष्यों ने भी इन की निन्दा करनी प्रारम्भ की। पढ़ने में असमर्थ तथा वेद प्राप्ति के लिए लोलुप होने के कारण उन में से कुछ शिष्यों ने गुरु की आज्ञा से तित्तिर का रूप धारण कर उन वमन की हुई ऋचाओं को भक्षण कर लिया। याज्ञवल्क्य द्वारा वमन किये जाने पर उच्छिष्ट होने के कारण वेद की उस शाखा का नाम कृष्ण यजुर्वेद हुआ, और तित्तिर रूप से उस का भक्षण करने वाले ऋषि तैत्तरीय शाखाध्यायी कहलाये। यथा :—

शुक्ल-कृष्ण-इति द्वेधा यजुश्च समुदाहृतम्।
शुक्लं वाजसनेयं तत्कृष्णं स्यात्तैत्तिरीयकम्॥

इस स्मृति प्रमाण से यजुर्वेद शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार का है। महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा भगवान् सूर्यदेव की आराधना से उपलब्ध वेद का नाम "शुक्ल यजुर्वेद" है और वही शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय महर्षि के नाम से प्रसिद्ध है। "पूर्वोत्तराङ्ग-सहितं ब्रह्मविद्यानुबोधकं। बुद्धिनैर्मल्यहेतुर्यत्तद् यजुःशुक्ल-मीर्यते।" यह इस की निरुक्ति है। वेद का वही उच्छिष्ट भाग तैत्तरीय कृष्ण यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध है।

गुरु वैशम्पायन के अकारण क्रोध और पढ़ी हुई विद्या के निकल जाने से विद्याप्रेमी महर्षि याज्ञवल्क्य अत्यन्त दुःखी हुए। उन में योग शक्ति थी। वे अपने को व्यर्थ दण्ड देने और परिश्रम से संप्राप्त की हुई विद्या को वापिस ले लेनेवाले गुरु वैशम्पायन से इसका बदला ले सकते थे। परन्तु नहीं! "शिष्य को कभी गुरु का सामना नहीं करना चाहिये" इस शास्त्र-आज्ञा का स्मरण कर उन्होंने एक शब्द तक मुँह से न निकाला। हाँ, दुःखी होकर महर्षि ने यह संकल्प तो अवश्य उसी क्षण कर लिया कि, आज से मैं किसी मनुष्य को गुरु न बनाऊँगा और न उन से विद्याध्ययन ही करूँगा।

योगी याज्ञवल्क्य महर्षि वैशंपायन के आश्रम से उसी क्षण चल दिये और प्रतिज्ञानुसार सूर्य भगवान् की आराधना करने लगे। याज्ञवल्क्य की उत्कृष्ट तपस्या तथा आराधना से सूर्य प्रसन्न हुए और बोले:—

"तपोनिधे! किस इच्छा से इतना कष्ट सह कर तुम हमारी आराधना कर रहे हो?" याज्ञवल्क्य ने प्रणाम कर अपना पूर्ववृत्तान्त एवं प्रतिज्ञा कह सुनाई। इन की प्रतिज्ञा तथा आराधना से प्रसन्न हो भगवान् भास्कर ने माध्यंदिनि

वाजसनेय यजुर्वेद सम्बन्धी ऋचाओं को इन्हें पढ़ाया, और इन के विद्योपार्जन के कठिन परिश्रम तथा प्रेम से सन्तुष्ट हो आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी विद्या सदा ताजी बनी रहे और सफल हो ।

अब भी विद्या से इन्हें सन्तोष न हुआ और ये पुनः सरस्वती देवी का कठिन तप करने लगे। इन की कठिन तपस्या से सरस्वती देवी इन पर प्रसन्न हो गई और उन की कृपा से महर्षि याज्ञवल्क्य ने सम्पूर्ण रहस्य सहित शतपथ ब्राह्मण नामक वेदभाग की रचना की। इतना होने पर भी इन की तृप्ति न हुई, और इन्हों ने प्रयत्न कर सूर्य भगवान् से ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद अंग उपांग सहित पढ़े। महर्षि याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद का जो भाग उत्कृष्ट तप के साथ सूर्य भगवान् से पढ़ा था, उस का नाम "शुक्ल यजुर्वेद" हुआ। याज्ञवल्क्य की इस उत्कृष्ट विद्या प्राप्ति से सब ऋषि तथा भूत पूर्व गुरु महर्षि वैशम्पायन को आश्चर्य हुआ।

इतने कठिन परिश्रम से याज्ञवल्क्य ने कृतकृत्यता प्राप्त की और वेद का जो भाग शुक्ल यजुर्वेद नाम से विख्यात है, उसे अपने शिष्यों को पढ़ाया, उत्कृष्ट तप एवं लोकविलक्षण विद्या प्राप्त करने से महर्षि याज्ञवल्क्य की कीर्ति-कौमुदी संसार में फैल गई।

एक समय महाराज जनक ने यज्ञ करने की इच्छा से, पैल, वैशम्पायन, जैमिनीय और सुमन्त प्रभृति ऋषियों को अभिमन्त्रित किया। ऋषिलोग शिष्यों के सहित विधिवत् यज्ञ करा रहे थे कि अकस्मात् भार्या कात्यायनी सहित महर्षि याज्ञवल्क्य जी वहाँ आ पहुँचे। इन को आए देख,

उपस्थित ऋषिवृन्द सहित महाराज जनक सहसा खड़े हुए उचित सत्कार के अनन्तर इन के बैठ जाने पर सब लोग भी बैठ गये और यज्ञविधान होने लगा। श्रौत, स्मार्त कर्म विधि में उस समय महर्षि याज्ञवल्क्य अद्वितीय थे। अतः इन के सम्मुख किसी को यज्ञ कराने का साहस न हुआ। महर्षि वैशम्पायन और स्वयं जनक के बारबार प्रार्थना करने पर इन्हों ने उस यज्ञ को पूर्ण कराया। यज्ञ समाप्त हो जाने पर केवल ऋषि की सम्मति से दोनों महर्षियों को समान सम्मान देकर उस की दक्षिणा जनक ने आधी २ बाँट दी। सामवेद के ज्ञाता महाराज धनञ्जय ने भी महर्षि याज्ञवल्क्य को अध्वर्यु नियत कर एक बार यज्ञ किया था।

किसी समय प्रसन्नसलिला भगवती गोदावरी के तट पर महाराज जनक ने याज्ञवल्क्य को आचार्य बना अश्वमेधयज्ञ का प्रारम्भ किया। राजा जनक और महाराज याज्ञवल्क्य द्वारा यज्ञ सम्पादित होने के कारण वह "नासिक" नाम से प्रसिद्ध हुआ और अब तक वर्तमान है।

पुनश्च कदाचित् द्विजराज चन्द्रदेव प्रजापति दक्ष के शाप से राजयक्ष्मा से पीड़ित हुए और उपाय करने पर भी रोग दूर न हुआ, तब अन्त को उन्होंने किसी सरोवर के समीप गोदावरी के तीर उसकी शान्ति के लिए महर्षि याज्ञवल्क्य की अध्यक्षता में विधिवत् सूर्यदेवतात्मक यज्ञ किया। मन्त्र और विधिपूर्वक कार्य की शक्ति निष्फल नहीं होती। चन्द्र इस रोग से निर्मुक्त हो कलाओं से परिपूर्ण हुए, और चन्द्र के यज्ञ करने के कारण इस तालाब का नाम "चन्द्रपुष्करिणी" प्रसिद्ध हुआ।

इसी प्रकार एक समय विशेष कार्यवश सूर्यग्रहण पर नर्मदा नदी के निकट मित्र वृन्द नाम पुर में कात्यायनीय सूत्र-विधि के अनुसार वैष्णव यज्ञ कराने के लिए सब देवताओं ने मिलकर महर्षि याज्ञवल्क्य से उस यज्ञ को पूर्ण कराया। इसके बाद परीक्षित् के पुत्र शतानीक को याज्ञवल्क्य ने "शुक्ल यजुर्वेद" शाखा का अध्ययन कराया। जगद्‌गुरु प्रजापति ब्रह्माजी ने भी एक समय विष्णु को प्रसन्न करने के लिये पुण्य-तमा कांची क्षेत्र में याज्ञवल्क्य की सहायता से अश्वमेध यज्ञ किया था।

राजा जनक स्वयं ज्ञानी थे, परन्तु फिर भी उनका विचार हुआ कि गुरुद्वारा ब्राह्मण की शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। कौन ब्रह्मनिष्ठ है, जिन को गुरु बनावें, इसी उधेड़बुन में वे रात दिन लगे रहते थे और उनका ऐसा करना ठीक भीथा, क्योंकि वे स्वयं पूर्णज्ञानी थे, अतः साधारण पुरुष का, उन्हें इस विषय की शिक्षा देना कठिन था। अपने उद्देश की पूर्ति के लिए उन्होंने यज्ञ के निमित्त याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषियों को आमन्त्रित किया। सब ऋषियों के आजाने पर महाराज जनक ने बछड़े सहित सोनेकी हजार गायें मँगवा कर उपस्थित कीं और "जो ब्रह्मनिष्ठ हो वह इन सुवर्ण की गायों को अपनी शक्ति से सजीव कर ले जाय" इस प्रकार घोषणा की। सभा में एक से एक ब्रह्मनिष्ठ बैठे थे परन्तु किसी को उठने की हिम्मत न पड़ी और सब एक दूसरे का मुँह देखने लगे। बात यह थी कि, सब ऋषिलोग आपस में यह विचार कर रहे थे कि, यद्यपि हम ब्रह्मनिष्ठ हैं परन्तु तो भी पहले हमारे उठ खड़े होने पर औरों को जो कि हम से वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध हैं (उनका) तिरस्कार होगा।

सभा में सब ओर सन्नाटा देख महर्षि याज्ञवल्क्य ने गायों को सजीव कर अपने शिष्य "प्रोक्तकारी" को उन्हें हँका ले चलने की आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा पाते ही—प्रोक्तकारी गायों को हाँक कर ले चला, तब तो अन्य ऋषियों ने बड़ा कोलाहल मचाया, जिस से सभाभवन गूँज उठा।

महाराज जनक ने प्रार्थनापूर्वक ऋषियों को किसी प्रकार शांत किया और बोले कि आप लोगों के सम्मुख महर्षि याज्ञवल्क्य की ब्रह्मनिष्ठा और श्रेष्ठता प्रमाणित हो गई। उन्होंने अपनी योगशक्ति से गायें सजीव कर दीं, अब आप लोगों का व्यर्थ विवाद करना उचित नहीं। ऐसा कह महाराज जनक ने सब को यथोचित सत्कार कर और दक्षिणा दे विदा किया। सब के चले जाने प महर्षि याज्ञवल्क्य से हाथ जोड़ ब्रह्मविद्योपदेश के लिए उन्होंने प्रार्थना की। राजा जनक को उपयुक्त पात्र समझ और उनकी विशेष नम्रता से प्रसन्न हो, उन्हों ने राजा को गोपनीय ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया और अपने आश्रम को लौट गये। राजा जनक इन के अनुग्रह से योगसिद्धि प्राप्त कर गृहस्थीसे विरक्त हो बन को चले गये, और आत्मज्ञान लाभ से देहाभिमान रहित हो विदेह नाम प्राप्त किया जिन का वंश वैदेह नाम से अब तक पुराणों में पाया जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मविद्या में सब से श्रेष्ठ होने के कारण महर्षि याज्ञवल्क्य का यश चारों दिशाओं में फैल गया और इसी कारण इन का नाम योगीश्वर याज्ञवल्क्य प्रसिद्ध हुआ।

महर्षि याज्ञवल्क्य रचित ग्रन्थों में मुख्यतया इस समय संसार में चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उन में से प्रथम याज्ञवल्क्य

शिक्षा, जिस में शुक्ल-यजुर्वेद, वाजसनेय, माध्यंदिन शाखा वालों के लिए वेदाध्ययनादि की पूर्णतः विधि वर्णित है। द्वितीय प्रतिज्ञा सूत्र है, जिस में वेद मन्त्रों के उदात्त, अनुदात्तादि स्वर जानने की विधि बतलाई गई है। तृतीय याज्ञवल्क्य संहिता है, जिस में ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रादि वर्ण विभाग तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की द्विज संज्ञा एवं जन्म से लेकर मरणपर्यंत उन की वैदिक क्रिया से राजा, मन्त्री; सभासद, ब्रह्माणीय वर्ण, और गृहस्थादिकों के धर्म, लक्षण आदि बातों का सविस्तार समावेश किया गया है और उसी सिद्धान्त के अनुसार इस समय ब्रिटिश भारतीय न्यायालयों मे दायादि भाग प्रभृति का निर्णय होता है। चतुर्थ शतपथ ब्राह्मण है। इस में वाजसनेय शुक्ल यजुर्वेद सम्बन्धी १५ शाखाओं विशेषतः माध्यंदिनीय शाखा का वर्णन किया गया है।

महर्षि वेदव्यास ने वेद के चार विभाग किये, और क्रम से उन्होंने अपने चार शिष्यों को एक २ वेद पढ़ाया। सांगोपांग यजुर्वेद के पढ़नेवाले वैशंपायन ऋषि थे और उन्होंने इस को ८६ शाखाओं में विभाजित कर अपने भिन्न भिन्न ८६ शिष्यों को पढ़ाया।

प्रति दिन अन्नवस्त्रादि दे अपने घर में रख कर छात्रों को पढ़ाने वाले महर्षि वाजसनि के पुत्र ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य वाजसनेय नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्होंने शुक्ल यजुर्वेद सम्बन्धी ऋचायें भगवान् सूर्य से प्राप्त कर अपने शिष्यों को पढ़ायीं और वे शाखायें उन्हीं के नाम से प्रख्यात हुईं। माध्यंदिनि नामक महर्षि ने जो शाखा पढ़ी, उसका नाम माध्यंदिनीय

हुआ। वाजसनेय याज्ञवल्क्य ऋषि के मुख्य प्रवर्तक होने के कारण इस का नाम वाजसनेयी हुआ और इस शाखा के अध्ययन करने वाले वाजसनेय कहलाये। इस प्रकार इस का नाम "वाजसनेय माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद" लोक में प्रसिद्ध हुआ।

राज जनक की सभा में ऋषि मुनियों से शास्त्रार्थ किया था। उस सभा में गार्गी नाम की एक ब्रह्मवादिनी स्त्री भी आई थी। उन्हों ने याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया। याज्ञवल्क्य के समान प्रखर विद्वान् से पार पाना गार्गी के लिए कठिन था, इस में सन्देह नहीं। पर गार्गी इतनी बड़ी विद्वन्मण्डली पर जिस का रोब छा गया था उस से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हो गयी यही उस के लिए प्रशंसा की बात है।

याज्ञवल्क्य ज्ञान राज्य में बहुत बड़े मनुष्य थे। इन्हों ने ज्ञान की अनेक विकट गुत्थियाँ सुलझायी थीं।

—गङ्गाविष्णु।

महर्षि वेदव्यास।

महर्षि वेदव्यास के पिता का नाम पराशर और माता का नाम सत्यवती था। इन का जन्म यमुना के द्वीप में हुआ था और ये काले थे, इस कारण ये कृष्णद्वैपायन के नाम से प्रसिद्ध हैं। बदरिकाश्रम में जाकर बहुत दिनों तक इन्होंने बदरीवन में तपस्या की थी, इस कारण इन को बादरायण भी कहते हैं। ये बड़ेही विद्वान्, योगी, ज्ञानी और धर्मवेत्ता थे। इन्होंने वेदों के प्रचार में बड़ी सहायता की है। कितने ही

शिष्यों को इन्होंने वेद पढ़ाये । वेदों का विभाग किया । पातञ्जल रचित योग सूत्रों का भाष्य बनाया । वेदान्तसूत्र इन के ही बनाये हैं, जिन सूत्रों पर शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्यों के बनाये भाष्य वर्तमान हैं । महाभारत नाम की पुस्तक जो भारतवासियों की अत्यन्त प्रिय सामग्री है वह भी इन्हीं की बनायी है । इन पुस्तकों के अतिरिक्त अष्टादश पुराण भी इन्हों ने बनाये, पर सन्तोष नहीं हुआ, चित्त में प्रसन्नता न हुई, तब नारदजी के उपदेश से भक्तिप्रधान श्रीमद्भागवत नामक ग्रन्थ बनाया । भागवत की उत्तमता के विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसका 'गेहे गेहे जने जने' प्रचार है । भारतवासी आस्तिक मात्र भागवत के प्रेम में मस्त हैं । इतने बड़े ग्रन्थकार के गुणों का परिचय भला हमलोग क्या दे सकते हैं ! किसीका यह कहना बहुत ही ठीक है कि ग्रन्थकारों का परिचय उनके ग्रन्थों से ही होता है । वेदव्यास के परिचय के लिए इनके बनाये ग्रन्थ ही सब से उत्तम वस्तु हैं । पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु आदि कई इनके प्रसिद्ध शिष्य थे, जिनको इन्हों ने वेद पढ़ाये थे ।

सरस्वती नदी के तीर पर इन्हों ने अपना आश्रम बनाया था । वहीं ये रहते थे, शिष्यों को विद्या पढ़ाते थे और वहीं से शिष्यों के द्वारा कभी कभी स्वयं भी ये धर्म प्रचार करते थे । उनके बनाये ग्रन्थ राशि को देखकर आश्चर्य होता है ।

कौरव पाण्डव कुल से इनका कुछ संबन्ध था, जब चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य मर गये, तब उनकी माता सत्यवती ने भीष्म से ब्याह करलेने के लिये कहा, पर भीष्म ने हाथ जोड़ कर उनकी आज्ञा मानना अस्वीकार कर दिया ।

इस से सत्यवती बहुत घबड़ायीं, वंशनाश के भय से वह भय-भीत हो गयीं, तब उन्हों ने कृष्ण द्वैपायन को बुलवाया। ये वहाँ गये और सत्यवती की आज्ञा से वंशरक्षा के इन्हों ने उपाय किये। चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य की विधवाओं के गर्भ से धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न हुए तथा एक दासी के गर्भ से विदुर उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् भी सदा वे पाण्डवों को उत्तम परामर्श देते रहे। जब जब पाण्डवों पर कठिन समय आया तब तब वेदव्यास जी पाण्डवों के यहाँ गये और उत्तम परामर्श से तथा अपनी अमूल्य सहायता से उनकी रक्षा करते रहे।

पाण्डव द्वैतवन में जब रहते थे। तब वेदव्यास जी उन के पास पहुँचे। वेद्व्यासजी ने कहा—अर्जुन को तपस्या करने के लिए जाना चाहिए, यह तपस्या के द्वारा अस्त्र शस्त्र प्राप्त करे जिन से शत्रुओं का पराभव हो। युधिष्ठिर ने वेदव्यास की आज्ञा सिर चढ़ाई। अर्जुन तपस्या करने जाने के लिए तैयार हुए। व्यासजी ने उन्हें एक विद्या का उपदेश दिया और तपस्या करने की रीति बतलायी। अर्जुन गये, उन्हों ने तपस्या की और इन्द्र, शिव आदि से उन्हें उत्तम उत्तम अस्त्र शस्त्र मिले। पाण्डव भी इनका बड़ा आदर करते थे, वे भी कठिन समयों में इन को बुलाते थे और इन का उपदेश ग्रहण करते थे। राजा युधिष्ठिर ने जो राजसूय यज्ञ किया था उस में उन्हों ने वेदव्यास जी को निमन्त्रित किया था।

शिवजी को प्रसन्न करने के लिये वेदव्यासजी ने बहुत दिनों तक मेरु पर्वत के शिखर पर तपस्या की थी,

इस से प्रसन्न हो कर शिवजी ने इन्हें वर माँगने के लिए कहा। इन्हों ने वर में एक प्रभावशाली पुत्र माँगा। उसी तपस्या के प्रभाव से वेदव्यासजी को एक पुत्र हुआ, जिस का नाम शुकदेव पड़ा। शुकदेव कितने ज्ञानी थे, कितने विद्वान् थे, इस बात के लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

भगवान् वेदव्यास के विषय में बहुत अधिक लिखा जा सकता है। जिन के बनाये सैकड़ों उत्तम उत्तम और बड़े बड़े ग्रन्थ हैं उन के विषय में लिखने की सामग्रीयों का अभाव नहीं हो सकता। पर क्या हम लोग उतना लिख सकते हैं? बस यही समझिये।

भगवान् शङ्कराचार्य ने व्यासदेव के बतलाये अद्वैत मत का प्रचार किया था। आत्मा की एकता, संसार का अनित्यत्व, वैदिक ज्ञान काण्ड की सत्यता आदि बातें व्यासदेवजी ने ही बतलायी थीं।

महर्षि वाल्मीकि।

महर्षि वाल्मीकि का चरित्र बड़ाही विलक्षण है। इन के विषय में जो बातें प्रसिद्ध हैं उन्हें सुन कर आश्चर्य होता है। जो एक बटमार का काम करता था, वही एक दिन आदि कवि का पद पाता है—क्या यह कम आश्चर्य की बात है?

वाल्मीकि के जन्म के सम्बन्ध में तीन प्रकार की बातें प्रसिद्ध हैं, तीनों नीचे लिखी जाती हैं। इन तीनों में कौन ठीक है इस बात के निर्णय का भार पाठकों पर छोड़ना ही

मैं उचित समझता हूँ। इस के दो कारण हैं—पहला कारण है निर्णय में सहायता देने वाले प्रमाणों का अभाव और दूसरा कारण है पाठकों का रुचि भेद। इस बात का मुझे पता नहीं कि कौन निर्णय किस को पसन्द आवेगा। ऐसी दशा में निर्णय करने के लिए कुछ परिश्रम उठाया भी जाय तो वह कई अंशों में व्यर्थ होगा। अतएव निर्णय के रास्ते से दूरही रहना मैं अपने लिए उचित समझता हूँ।

कुछ लोग कहते हैं कि एक ब्राह्मण थे, उन के एक लड़का हुआ। लड़का छोटाही था, उसी समय माता पिता उस लड़के को वन में छोड़ कर तप करने चले गये। किसी वनवासी भील ने उस लड़के को ले लिया और पाल पोस कर बड़ा किया। दूसरी बात यह है कि किसी पतित ब्राह्मण के वीर्य से और किसी भीलिनी के गर्भ से इनकी उत्पत्ति हुई थी। तीसरा मत यह है कि एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी वन में रहते थे, उन के एक पुत्र हुआ। पुत्र की अवस्था छोटी ही थी कि किसी उपद्रव के कारण ब्राह्मण ब्राह्मणी को वहाँ से भागने के लिये लाचार होना पड़ा। उसी घबराहट में भागने के समय लड़का छूट गया। उपद्रव शान्त होने पर उन लोगों ने लड़के को बहुत ढूँढ़ा पर पता न लगा, क्योंकि किसी भील ने उस लड़के को लेलिया था। इस प्रकार एक ब्राह्मणपुत्र भीलों के हाथ में आया। भीलों ने पाल पोस कर उस लड़के को बड़ा किया और उसका नाम रत्नाकर रखा। बड़े होने पर रत्नाकर उन्हीं को अपना पिता माता समझता और भील बालकों के साथ खेला करताथा, इस प्रकार वह

अपने को भील समझने लगा। वह भीलों के साथ डाँका मारने लगा। लूट मार करने लगा। थोड़े ही दिनों में वह इस विद्या में बड़ा ही निपुण हो गया। उसे धनुर्विद्या की शिक्षा दी गयी थी और एक भीलनी के साथ उस का ब्याह भी हो गया था। उस के पिता माता भी वृद्ध हो गये थे। इस प्रकार वह एक पूरा कुटुम्बी बन गया था।

वृद्ध माता, पिता, स्त्री और बच्चों के पालने के लिये रत्नाकर ने डाँका डालना, लूटना और इन कामों के लिये हत्या करना आदि काम अपनी जीविका के लिए निश्चित किये। वह प्रातःकाल रास्ते के पास किसी वृक्ष पर चढ़कर बैठ जाता था, और वहीं से टकटकी लगाये देखा करता था। जहाँ किसी राही-बटोही को आते देखता, झट पेड़ से नीचे उतर जाता और उसे मार कर धन ले लेता और पुनः पेड़ पर चला जाता। इस प्रकार सूर्योदय से सूर्यास्त तक प्रतिदिन का यही उसका नित्य कर्म था। इन कामों में वह बड़ा निपुण था और अपने दल वालों में उसकी बड़ी प्रशंसा थी। इस प्रकार मालूम नहीं उसने कितने आदमियों को मारा था, कितने बालकों को अनाथ किया था, कितनी स्त्रियों को अनाथ किया था, कितनों को रुलाया था, कितनों को सताया था, इस का ठिकाना नहीं।

मनुष्य का जीवन भी जलधारा के समान है। जलधारा सीधे चली जाती है, बीच में थोड़ा सा कारण उपस्थित होता है और उसका मार्ग बदल जाता है, वह पश्चिम की ओर से पूर्व की ओर हो जाती है। यही बात मानवी जीवन प्रवाह के लिए भी देखी जाती है। एक मनुष्य है जिसकी

जीवनधारा एक ओर वह रही है, सहसा कोई एक घटना हो जाती है और वह जीवनधारा दूसरी ओर बहने लगती है, रत्नाकर के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। उसकी जीवनधारा पलटने का समय आ गया। यद्यपि वह निरन्तर पाप करता था पर अदृश्य में उसके उत्तम जीवन का पट तैयार हो रहा था। देखनें वाले देखते थे कि रत्नाकर बड़ाही अधर्मी है, दयालु हृदय उसको देख कर दुखी होते थे कि ऐसे पापी का उद्धार कैसे होगा; पर अदृश्य में उसके पाप-जीवन की समाप्ति और उत्तम जीवन के प्रारम्भ की तैयारी हो रही थी। भले ही यह बात लोगों को मालूम न हुई हो, पर बात सच्ची है। एक दिन उस अदृश्य पट को सब लोगों ने प्रत्यक्ष देखा और विश्वास किया। बात यों हुई—प्रति दिन के समान रत्नाकर पेड़ पर बैठ कर अपने शिकार को ढूँढ़ रहा था। उसी रास्ते नारद जी आये। उनको देखते ही रत्नाकर पेड़ से उतरा और झपट कर उनके पास पहुँचा। नारद जी ने पूछा-तुम कौन हो? रत्नाकर ने कहा—तुम तुम को नहीं पहचानते? अच्छा, अभी पहचानते हो, यह कह कर उसने अपना लोहे का दण्ड नारद को मारने के लिये उठाया, पर न मालूम क्यों वह दण्ड उससे आज उठा नहीं। रत्नाकर जरा चकित हुआ। वह इधर-उधर देखने लगा। नारद जी ने कहा—क्या ताकता है? तू इतना घोर पाप करता है, किस लिये? क्या परिवारपालन के लिये? पर क्या परिवार वाले तेरे इस पाप में से भाग लेंगे? रत्नाकर ने अपने जीवन में ऐसी अद्भुत बातें पहले-पहल सुनी थीं। नारद की पवित्रता का भी उस पर कुछ प्रभाव पड़ा। वह हक्का-बक्का सा हो गया,

सहसा कोई उत्तर न दे सका। बड़ी देर तक सोचता विचारता रहा। थोड़ी देर में सोच विचार कर वह हँसने लगा और बोला—लूट मार हत्या आदि के द्वारा जो धन मैं ले जाता हूँ वह माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि सभी को देता हूँ। वह धन सभी के काम में आता है, फिर वे हमारे पाप में भागी क्यों न होंगे? धन के भागी होते हैं और पाप के भागी न होंगे? यह कैसी बात है?

नारद जी ने कहा—तुम ऐसा समझते हो, यह ठीक है, तुम्हारे माता-पिता भी ऐसा ही समझते हैं, ये भी तुम्हारे पापों में भागलेने के लिये तैयार हैं, क्या यह बात तुमने उन से पूछी है। बिना उनसे पूछे इस विषय का खुदही निश्चय करना तो ठीक नहीं। यदि तुम मेरा कहना मानो तो जाओ अपने माता-पिता की राय पूछ आओ। जब तक तुम लौट कर आओगे तब तक मैं यहीं ठहरता हूँ। नारद की बातें सुनकर रत्नाकर के मन में तरह तरह के विचार उठने लगे। वह कभी सोचता कि क्या यह मुझे धोखा देरहा है? मुझे घर भेजकर आप भाग जाना चाहता है। अच्छा, यह भागही जायगा तो क्या होगा, बात तो अच्छी कहता है, इस की बात की जाँच तो करनी चाहिये। इस प्रकार सोच विचार कर रत्नाकर ने कहा—अच्छा, मैं जाता हूँ, अपने परिवार वालों से भी पूछ आता हूँ, पर तुम भाग जाओ तो नारद ने कहा—तुम इस बात की चिन्ता मत करो, संसार में सभी लुटेरे और झूठे ही नहीं बसते; यद्यपि तुम को उन लोगों का परिचय नहीं है जो सत्यवादी हैं, जो परोपकारी हैं, जो सज्जन हैं, पर ऐसे मनुष्य संसार में हैं। तुम निश्चिन्त होकर घर जाओ, लौटने

पर तुम मुझको यहीं पाओगे। रत्नाकर दौड़ता हुआ अपने घर गया, पिता के पास जाकर उसने पूछा—मैं लूट-मार कर धन ले आता हूँ, वही आप लोग खाते हैं और मैं भी खाता हूँ। लूट-मार में मुझे प्रतिदिन कई आदमियों को मारना भी पड़ता है; इस से पाप भी होता है। आप लोग उस पाप में भी भाग तो अवश्य ही लेंगे, क्योंकि आप ही लोगों के लिये मुझे यह अधर्म करना पड़ता है। पिता ने सब बातें सुनकर रत्नाकर से कहा—जब तुम बालक थे, अपना जीविका अर्जन करने में असमर्थ थे उस समय मैंने तुम्हारा पालन किया, उस समय मैंने कितने अधर्म किये उसका ठिकाना नहीं, पर क्या तुम मेरे उन पापों के भागी हो? मैं नहीं समझता, और न मैं तुम्हें अपने पापों का भागी ही बनाना चाहता हूँ। इस समय मैं वृद्ध हूँ, मैं अपनी जीविका स्वयं नहीं चला चला सकता। मेरा पालन करना तुम्हारा आवश्यक धर्म है, क्योंकि तुम मेरे पुत्र हो। तुम इसके लिये जो वृत्ति उचित समझो करो, मैंने तुम्हें डाँका मारने के लिये, हत्या करने के लिये या उसी प्रकार के और कुछ करने को थोड़े ही कहा है। तुम दूसरे उपाय से हमारा पालन कर सकते हो। तुम जो कर रहे हो वह मेरे लिए नहीं, किन्तु अपने लिए; अतएव मैं तुम्हारे पापों का भागी नहीं हो सकता। पिताकी बातें सुनकर रत्नाकर ने सिर नीचा कर लिया। वह पिता के यहाँ से उठकर अपनी माता के पास गया। माता से भी उसने वही प्रश्न किया। माता ने कहा—बेटा! तू यह क्या कहता है; माता-पिता पुत्र के कर्मों के भागी थोड़े ही होते हैं। बेटा! दस महीने मैंने तुझको गर्भ में रखा, पाला पोसा। माताके ऋण का शोधन करना बड़ा

कठिन है। तू तो अपना कर्तव्य कर रहा है, मैं तेरे पापों का भागी क्यों बनूँ? बेटा! तेरा यह धर्म है कि तू मेरा पालन कर, इसके लिए तू चाहे जो उपाय काम में ला। माता की बातों से उसका हृदय बहुत ही दुःखी हुआ। वह वहाँ से उठकर स्त्री के पास गया। स्त्री से भी उस ने वही प्रश्न किया। स्त्री ने उत्तर दिया—आपने मुझ से ब्याह किया है। मेरा भरण पोषण करना आपका धर्म है। आप अपने धर्म का पालन किसी प्रकार भी कर सकते हैं। बुरे कर्मों से हमारा पालन कीजिएगा या अच्छे कर्मों से यह आपकी इच्छा। मैं ने आपको बुरे कर्म करने के लिए कहा नहीं है। अतएव आपके पाप में मैं भाग भी नहीं ले सकती। तीनों जगहों से एक ही प्रकार का उत्तर पाकर रत्नाकर बहुत व्यथित हुआ। आजतक किये उसके पाप सामने आकर नाचने लगे, वह एक बार काँप गया, दौड़कर नारद जी के पास आया। नारद के चरणों पर वह लोट गया, बड़ी व्याकुलता से रोने लगा। हाथ जोड़ कर उसने विनती की कि महाराज! क्या मेरे लिये कोई उपाय है? क्या मेरे समान पापियों का भी उद्धार होता है? कृपाकर मेरे लिए कोई उपाय बतलाइए, आपने मुझे पाप की ओर से हटाया है, अब आपही कृपा करें तो मेरा उद्धार हो। रत्नाकर की व्याकुलता देखकर नारद जी को बड़ी दया आयी। उन्होंने पास ही के तालाब को दिखाकर रत्नाकर से उस में स्नान कर आने के लिए कहा। रत्नाकर वहाँ गया, पर उसे मालुम पड़ा कि उस तालाब में जल नहीं है, वह सूखा पड़ा है। वह लौट कर नारद जी के पास आया और तालाब के सूखा होने की बात

उसने कह सुनायी। इससे नारद जी ने समझा कि यह बहुत बड़ा पापी है और तब उनके मन में और अधिक दया आयी। महर्षि ने उसके उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना की। तदनन्तर नारद जी उसे झाड़ी में ले गये, उस पर उन्होंने अपने कमण्डल के जल से अभिषेक किया और भगवन्नाम का उपदेश दिया और वे वहाँ से अन्तर्धान हो गये। तब से रत्नाकर अपने को भूल गया, शरीर का भान भी उसका जाता रहा। वह भगवन्नाम का स्मरण और भगवत् रूप का ध्यान करने लगा। इस प्रकार ध्यान करते उसको अनेक वर्ष बीत गये। उसके शरीर पर दीमक लग गयी, वह दीमकों की बामी (वल्मीक) के भीतर छिप गया। इस प्रकार कठिन तपस्या करने पर जब वह पापमुक्त हो गया, जब पहले शरीर के रक्त मांस आदि को उस ने सुखवा दिया, तब नारद को साथ लेकर ब्रह्मा वहाँ आये। नारदने बामी के बीच से उसे निकाला। बामी को संस्कृत में वल्मीक कहते हैं। वल्मीक से वह निकला। इस कारण उसका नाम वाल्मीकि पड़ा। वाल्मीकि ने नारद और ब्रह्मा की स्तुति की।

ब्रह्मा की आज्ञा से नारद ने वाल्मीकि को ऋषि की पदवी दी। वाल्मीकि ने नारद से पूछा—कि महाराज! कृपा कर आपही ने हमारा उद्धार किया है, अब बतलाइए हम क्या करें? नारद ने कहा—राम नाम के प्रताप से आप का उद्धार हुआ है, इस कारण आप रामायण की रचना करें। उसमें रामचरित का वर्णन करें। वाल्मीकि ने कहा—महाराज! मेरे जैसा आदमी भला रामायण की रचना कैसे कर सकेगा? मुझे तो रचना के सम्बन्ध का कोई ज्ञान नहीं है। नारद जी ने

कहा—आप इस की चिन्ता न कीजिए; आप की जीभ पर सरस्वती जी विराजेंगी और आप को सब शास्त्रों का ज्ञान हो जायगा; आप रामायण अवश्य लिखें। आप इस काम के योग्य नहीं हैं, इस बात की चिन्ता आप मत करें। नारद जी वाल्मीकि को ऐसा उपदेश देकर वहाँ से चले गये।

वाल्मीकि तमसा नदी के तीर पर अपना आश्रम बना कर रहने लगे। इनका आश्रम ऋषियों का आश्रम हुआ, स्वाहा स्वधा की ध्वनि से वह आश्रम मुखरित हुआ। वेदाध्यायी शिष्यों की वेदध्वनि आस पास की भूमि को गुँजाने लगी, वाल्मीकि प्रातःकाल स्नान करने तमसा तीर पर जाते और तमसा में स्नान कर आश्रम लौट आते। यहाँ नित्यकर्म करते, शिष्यों को पढ़ाते। अनेक शिष्य भी इनके पास आकर रहने लगे थे, जिन में भरद्वाज मुख्य थे।

एक दिन प्रातः काल वाल्मीकि स्नान करने गये। रास्ते में इन्हों ने देखा कि एक व्याध किसी पेड़ के नीचे खड़ा है, पेड़ पर पक्षि-दम्पती बैठे हैं, वाल्मीकि के देखतेही देखते व्याध ने पुरुष पक्षी को मार गिराया। इस बात को देख कर वाल्मीकि को बड़ी दया आयी, और उस अत्याचारी व्याध पर क्रोध भी आया। इन्हीं दो भावों के उथल-पुथल में उन के मुँह से नीचे लिखा श्लोक निकला। यह पहला ही श्लोक है। इस के पहले वैदिक छन्दों में कविता होती थी। वह श्लोक यह है—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

इस श्लोक के कई अर्थ रामायण के टीकाकारों ने किये हैं, पर दो मुख्य हैं। एक अर्थ है शाप का और दूसरा अर्थ है प्रशंसा का। शाप का अर्थ पक्षी के पक्ष में घटता है और प्रशंसा का अर्थ श्रीराम पर। अच्छा, पहला अर्थ सुनिए, "हे निषाद व्याध!—बहुत वर्षों तक तुम स्थिति प्राप्त न करो, अर्थात् मर जाओ, क्योंकि पक्षि-दम्पती में से एक को—जो काममोहित था—तुम ने मारा है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है—हे मानिषाद! लक्ष्मीपते! आप बहुत दिनों तक स्थित रहें, क्योंकि काम-मोहित राक्षस-दम्पती में से एक को अर्थात् रावण को मारा है।

इस श्लोक के अपने मुख से निकलने से वाल्मीकि को बड़ा आश्चर्य हुआ। इस के पहले उन्होंने ऐसी छन्दोबद्ध वाणी सुनी न थी। वे मनही मन उसी छन्दोबद्ध वाणी के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क कर रहे थे। उसी समय ब्रह्मा ने प्रकट हो कर कहा—बेटा! आश्चर्य की कोई बात नहीं है, तुम्हारा सारस्वत तेज प्रकाशित हुआ है, अब तुम इसी छन्दोमयी वाणी में रामचरित का वर्णन करो। तुम जो कुछ कहोगे वही सच होगा। जैसा चरित तुम वर्णन करोगे वही चरित सच होगा। इतना कह कर ब्रह्मा अदृश्य हो गये।

वाल्मीकि अपने आश्रम पर आये और इन्होंने रामायण निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। रामावतार के पहले ही रामायण तैयार हो गयी थी। महर्षि वाल्मीकि दशरथ राजा के मित्र थे। राजा दशरथ अपने कामों में इन की सहायता लिया करते थे। रामचन्द्र जी पिता की आज्ञा से जब वन-वास के लिये चले तब उन्होंने वाल्मीकि के आश्रम पर कुछ

दिनों तक निवास किया था। वाल्मीकि के जीवन की एक और महत्वपूर्ण घटना है—

रावणवध के पश्चात् रामचन्द्र अयोध्या में आये और अयोध्या का राज्य करने लगे। उसी समय सीता के सम्बन्ध में अपवाद फैलने की सूचना राम को लगी। राम ने लक्ष्मण को कहा-कि सीता को वन में भेज आओ। राम की आज्ञा से लक्ष्मण सीता को गङ्गा पार ले जा कर छोड़ आये। उस समय सीता गर्भवती थीं, गङ्गा के रेतीले मैदान में सीता अपने फूटे भाग्य पर रो रही थीं, भाग्यवश वहाँ कहीं से वाल्मीकिजी आ गये, वाल्मीकि सीता को अपने आश्रम में ले गये। सीताजी नियमपूर्वक वहीं रहने लगीं। वाल्मीकि के आश्रम में ही सीता को दो पुत्र हुए, जिन का नाम लव और कुश था। वाल्मीकि ने लव-कुश के क्षत्रियोचित सब संस्कार किये। उन लोगों को शस्त्र और शास्त्र विद्या की शिक्षा भी उन्होंने हीं दी। इस प्रकार लव-कुश को वाल्मीकि ने पूर्ण योग्य बनाया। पर यह बात उन्होंने गुप्त रखी, जब रामचन्द्र अश्वमेध यज्ञ करने लगे उस समय उन्होंने अन्य ऋषियों के समान महर्षि वाल्मीकि को भी निमन्त्रित किया। वाल्मीकि भी गये और साथ लव-कुश को भी लेते गये। लव-कुश वाल्मीकि रामायण का पाठ करते थे इन को देख लोगों के मन में सन्देह होता था कि ये राजकुमार हैं। पर ये अपने को ऋषिकुमार ही बतलाते थे। पर समय आया और वाल्मीकि ने प्रकाशित कर दिया। उसी समय सीता भी निर्दोष साबित हुईं, पर सीता अपनी माता पृथ्वी की गोद में सदा के लिये चली गयीं।

वाल्मीकीय रामायण महर्षि वाल्मीकि के यश की ध्वजा है। संस्कृत साहित्यभण्डार का सर्वस्व है।

महामुनि गौतम।

ये बड़े तपस्वी और बड़े विद्वान् थे। इन के पिता का नाम दीर्घतमा था। दीर्घतमा त्रेता युग के प्रसिद्ध महर्षियों में थे। दीर्घतमा महर्षि अङ्गिरा के पौत्र थे। इनका आश्रम हिमालय के परिसर (तराई) में था। वहीं गौतम का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही उन्हों ने शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। ये तपस्वी, तत्वज्ञानी, विद्वान्, बुद्धिमान् और तेजस्वी थे। नयी नयी बातों का पता लगाने की ओर इन की प्रवृत्ति बाल्यावस्था से ही थी, ये सदा शास्त्रों का चिन्तन किया करते थे। इन की योग्यता का आदर उस समय के अन्य महर्षियों ने भी किया था। इन्हें सप्तर्षिमण्डल में स्थान मिला था। ये एक प्रामाणिक महर्षि हैं। इन की स्त्री का नाम अहल्या था। अहल्या बड़ी सुन्दरी और पतिव्रता थीं। अहल्या ने स्वयंवर में इन्द्र आदि लोकपालों को छोड़ कर गौतम को अपना पति बनाया था।

एक बार इन्द्र और चन्द्र ने मिल कर अहल्या की ओर से गौतम ऋषि के मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया। गौतम ऋषि के मन में यह बात बैठ गयी कि अहल्या हीन-चरित्र की स्त्री है। अतएव उन्होंने अपने शिष्य चन्द्र को अपने मृगचर्म से मारा जो उस की छाती में लगा, और वहाँ काला दाग पड़ गया। इन्द्र को गौतम ने शाप दिया कि तुम्हारे शरीर में हज़ार

भंग हो जायें और अहल्या को शाप दिया कि तू पत्थर की हो जा। गौतम के समान ब्रह्मर्षियों की बातें झूठी नहीं होतीं। गौतम ने जिस को जो शाप दिया, वह सब सच हुआ। इस घटना से गौतम का धर्मप्रेम कितना ऊँचा था, वे सदाचार को कितना महत्व देते थे, इस बात का पता लगता है। अहल्या उन की अत्यन्त प्रिय स्त्री थीं। पर जिस समय अहल्या के चरित्र में उन्हें सन्देह हुआ उसी समय उन्हों ने शाप दिया। धर्मप्रेम की दृढ़ता के सामने स्त्री प्रेम की कमज़ोरी ठहर न सकी, उन्होंने भ्रष्ट स्त्री को पत्थर हो जाने का शाप दिया। इस घटना से गौतम को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना वह आश्रम त्याग दिया जहाँ वे अहल्या के साथ रहते थे। अहल्या का उद्धार रामचन्द्र जी ने जनकपुर जाने के समय किया था, तब तक गौतम ने न तो दूसरा ब्याह किया और न वे सुख से रहे। अहल्या के उद्धार पाने पर गौतम सुखी हुए।

गौतम प्रयाग के पास कहीं आश्रम बना कर रहते थे, पुनः इस आश्रम में असुविधा होने से ये मिथिलाराज्य में चले गये और वहीं आश्रम बनाकर रहने लगे। वहीं अहल्या के साथ वियोग होने का बुरा प्रसङ्ग उपस्थित हुआ। इस घटना से दुःखी होकर गौतम ने इस आश्रम को भी छोड़ दिया और ये हिमालय प्रदेश में जाकर कहीं रहने लगे। वहाँ बहुत दिनों तक ये रहे। पुनः जब अहल्या इन को मिलीं तब ये वरुण के वन में चले गये और वहीं रहने लगे। वहाँ उन्हों ने आश्रम बनाया और बहुत दिनों तक घोर तपस्या की वह स्थान गौतम-आश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। गौतम का वह आश्रम इस समय तीर्थ समझा जाता है। इन के यहाँ अनेक शिष्य

पढ़ते थे। न्यायशास्त्र नाम का एक तत्त्वज्ञान-शास्त्र इन्होंने पहले पहल बनाया, इस से इन की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी, और दूर-दूर के जिज्ञासु विद्यार्थी इन के यहाँ आने लगे। गौतम के दो पुत्र थे-एक का नाम शतानन्द और दूसरे का नाम चिरकारी था। इन की एक कन्या भी थी जिस का नाम अञ्जनी था।

गौतम धर्मशास्त्रकार थे इन्हों ने जो धर्मग्रंथ बनाया है वह गौतम स्मृति के नाम से प्रसिद्ध है। इस का धार्मिक समाज में कम आदर नहीं है। इनका बनाया हुआ शास्त्र न्यायशास्त्र कहा जाता है। इस शास्त्र का दूसरा नाम न्याय-दर्शन भी है, इस दर्शन में पाँच अध्याय हैं, और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। एक दिन का बनाया हुआ 'आह्निक' नाम से प्रसिद्ध है। आह्निकों में अनेक तत्वों का विचार किया गया है।

इन के तपःप्रभाव से गोदावरी नदी गौतमी गंगा के नाम से प्रसिद्ध हुई। वहाँ बड़ा भारी मेला होता है। सिंहस्थ बृह-स्पति के कार्तिक मास में दूर दूर के यात्री वहाँ स्नान-पूजन करने के लिए आते हैं। मिथिला के राजा निमिराज को इन्होंने अनेक वर्षों तक यज्ञ कराया था। गौतमाश्रम में एक ह्रद है जो अहल्या-ह्रद के नाम से प्रसिद्ध है। ये अपने तपः-प्रभाव से बड़े-बड़े असाध्य कार्य भी सिद्ध कर दिया करते थे। कहते हैं कि ये प्रतिदिन प्रातःकाल धान रोपते थे और दोपहर तक फल लग कर वे पकजाते थे और वही गौतम भोजन करते थे। इस प्रकार की अनेक किंवदन्तियाँ गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं।

महर्षि पतञ्जली

महर्षि पतञ्जलि के पिता का नाम महर्षि अङ्गिरा था। इलावर्त वर्ष में ये रहते थे, और गोनर्दंदेश के गोनर्द नामक नदी के तीर पर इनकी तपस्या का आश्रम था। कुछ लोग कहते हैं कि सूर्यार्घ देते समय किसी ब्राह्मण की अंजलि से ये भूमि पर गिरे थे, जिसकारण इनका नाम पतञ्जलि पड़ा। इस प्रकार के तर्क करने का कारण पतञ्जलि शब्द है। इस शब्द का संस्कृत में अर्थ है—अञ्जलि से गिरा हुआ। इसी की सार्थकता के लिए वैसी कल्पना की गयी मालूम पड़ती है। पर इस कल्पना में या इस कल्पना के अधारभूत पतञ्जलि इस नाम में ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे अंजलि से उत्पन्न होना मालूम पड़े। सम्भव है पहले इनके कुटुम्ब में बहुत लोग हों और ये सब के प्यारे हों, सभी इनको अञ्जलियों में रखते हों, किसी कारणवश वे अलग अलग हो गये हों, अथवा इनपर उनका प्रेम ही कम हो गया हो और अञ्जलियों में इनका रहना छूट गया हो। क्या ऐसी घटना के संबन्ध में पतञ्जलि शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता? निश्चित बात क्या है इस बात का पता लगाना इस समय कठिन है।

महर्षि पतञ्जलि की स्त्री का नाम लोलुपा था, लोलुपा सुमेरु पर्वत के उत्तर की ओर किसी गुफा में बैठी थी। किसी दुःख की मारी अपनी रक्षा के लिए उसने वहाँ आश्रय ग्रहण किया था। वह किसी उत्तम कुल की कन्या थी। संयोगवश पतञ्जलि उधर से निकले, इन्होंने भयभीता एक

स्त्री को गुफा में देखा। इनको देखते ही स्त्री और अधिक डरी। पर इन्होंने मधुर वाक्यों से उसे धीरज बँधाया, उससे बातचीत की। इनकी बातों से चञ्चला को भी इन पर विश्वास हो गया, और वह इनके साथ आश्रम में आयी। पतञ्जलि ने उसे अपने योग्य समझा और उससे व्याह कर लिया। लोलुपा बड़ी बुद्धिमती स्त्री थी। पतिदेव उसे जो सिखाते थे वह सब सीख लेती थीं, वह गान-वाद्य में बड़ी निपुण हो गयी थी। जहाँ कहीं ऋषियों का सम्मान होता था और वहाँ ये दम्पती भी उपस्थित रहते थे, तो लोगों के आग्रह से इनको अवश्य गाना पड़ता था।

पतञ्जलि एक बड़े भारी विद्वान् थे। इन्होंने योग-दर्शन नाम का एक दर्शन बनाया। इसको पातञ्जल-दर्शन भी कहते हैं। यह सेश्वर सांख्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। कपिल के सांख्य में ईश्वर के विषय में कोई स्पष्ट बात नहीं कही गयी है, पर पतञ्जलि ने अपने दर्शन में ईश्वर-तत्व बतलाया है। अतएव योग-दर्शन सेश्वरसांख्य कहा जाता है। सांख्य में जो पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं, वे ही योग-दर्शनकार को भी स्वीकृत हैं। यही इन दोनों में समानता है और इसी कारण दोनो सांख्यशास्त्र कहे जाते हैं। इनमें भेद केवल यही है कि एक ईश्वर का प्रतिपादन करता है और दूसरा नहीं। जो ईश्वर का प्रतिपादन करता है वह सेश्वर सांख्य कहा जाता है और जो ईश्वर का प्रतिपादन नहीं करता वह निरीश्वर सांख्य कहा जाता है। योगिराज पतञ्जलि का परिचय उनके बनाये ग्रन्थों से ही लग सकता है, क्योंकि वेही उनके स्वरूप हैं। अतएव योग-दर्शन का संक्षिप्त परिचय नीचे लिखा जाता है।

यह दर्शन अन्य कतिपय दर्शनों के समान अपने निर्माता के नाम से ही प्रसिद्ध है। योगके लक्षण, उसके सहायक तथा विरोधी कारण और फल आदि का वर्णन इस दर्शन में किया गया है। भगवान् वेदव्यास ने इस दर्शन का भाष्य बनाया है। यह भाष्य संक्षिप्त है, पर है बड़े काम का।

इस भाष्य में एक प्रकार का मतभेद पाया जाता है। कुछ लोगों की सम्मति है कि इस दर्शन में भाष्यकर्ता वेदव्यास नहीं हैं। पर कुछ लोग इस भाष्य को वेदव्यास का ही बनाया मानते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने पातञ्जल भाष्य की एक टीका लिखी है। उन्हों ने एक श्लोक टीका के प्रारंभ में लिखा है, जिस से मालूम होता है कि वाचस्पति मिश्र के मत से पातञ्जल-दर्शन का भाष्य वेदव्यास का ही बनाया है। वह श्लोक यह है:—

नत्वा पतञ्जलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते।
संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्थभाष्ये व्याख्या विधास्यते॥

इस का अर्थ यह है कि पतञ्जलि ऋषि को प्रणाम करके वेदव्यास के भाष्य की संक्षिप्त स्पष्ट और बहुत अर्थ बोधन कराने वाली व्याख्या बनाता हूँ। श्लोक वाचस्पति मिश्र का है और इस श्लोक में यह बात स्पष्ट रूप से बतलाई गयी है कि पातञ्जल-दर्शन का भाष्य वेदव्यास का बनाया है। इस प्रकार के पुष्ट प्रमाण के रहने पर सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

सच्चा सन्देह वह है जो, बिना कारण के हो। कारण के रहने पर तो सन्देह होता ही है। यही बात पतञ्जल-दर्शन

के भाष्य के विषय की भी समझनी चाहिए । कतिपय सज्जन कहते हैं कि पातञ्जल-दर्शन-भाष्य महर्षि वेदव्यास का बनाया नहीं है । वे अपने मत की पुष्टि के प्रमाण यह देते हैं कि महर्षि वेदव्यास वेदान्तसूत्रों के निर्माता हैं । वेदान्तसूत्रों में योग-दर्शन के मत का खण्डन किया गया है । वहाँ लिखा है "एतेन योगः प्रत्युक्तः" अर्थात् इससे योग पराहत हुआ । योग-दर्शन के सिद्धान्त को वेदव्यास श्रुतिविरुद्ध और अप्रमाणिक समझते हैं । भला जिस बात को वेदव्यास अप्रमाणिक समझें, श्रुतिविरुद्ध समझें, उसी पर वे भाष्य लिखने बैठें, इस बात को स्वीकार करना कैसे उचित कहा जायगा । सब सन्देहवादियों का यही कहना है ।

वाचस्पति मिश्र की बात की ओर ध्यान न देकर जो सन्देह खड़ा करना चाहता है, उस को वाचस्पति मिश्र की उक्ति से समझाना बड़ा कठिन है । अतएव हम उन विचारों को समझाने को दूसरा प्रयत्न करते हैं ।

शास्त्रों में प्रधान और अप्रधान दो प्रकार की बातें लिखी जाती हैं । प्रधान बातों का समर्थन करने के लिये बहुतसी अप्रधान बातें लिखी जाती हैं । एकही सिद्धान्त के समर्थन के लिये कई हेतु बतलाये जाते हैं, उन में बहुत से हेतु कमज़ोर भी होते हैं और बहुत से मज़बूत होते हैं । शास्त्रकारों की यह रीति है । शास्त्रों में जो बातें लिख दी जायें, वे सभी प्रामाणिक समझी जायँ, यह कोई बात नहीं है । निर्बल हेतुओं का पहले उल्लेख होता है । और सबल हेतुओं का पीछे । अन्त में जो हेतु लिखा जाता है, वही दोषहीन और ग्राह्य होता है । मीमांसा के आचार्यों का कहना है कि "यत्परः शब्दः"

स शब्दार्थः"। जिस तात्पर्य से जिस शब्द का प्रयोग किया जाय, उस शब्द का वही अर्थ समझना चाहिये। इससे यह समझना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है, कि शास्त्र का जो तात्पर्य है वही उस का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है और वही प्रामाणिक है। अप्रधान विषयों के दुष्ट होने से या अप्रामाणिक होने से—प्रधान विषय की कोई हानि नहीं होती और न इस से उस शास्त्र की मर्यादा में ही कोई अन्तर होता है। प्रतिपाद्य विषय की ही प्रधानता है और उसी का निर्दोष तथा प्रामाणिक होना आवश्यक है।

अब हमलोगों को इस बात का विचार करना चाहिये कि योग-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है? और गौण विषय क्या है? वेदान्त ने योग-दर्शन के किस विषय का खण्डन किया है, मुख्य विषय का या गौण विषय का? यदि योग के मुख्य विषय का वेदान्त ने खण्डन किया हो तो इस बात को मानलेने में संकोच न करना चाहिए कि पातञ्जल-दर्शन अप्रामाणिक है। वह वेदविरुद्ध है, अतएव इस दर्शन का भाष्य वेदव्यास ने न बनाया होगा। यदि यह बात ऐसी न हो, यदि योग के प्रधान विषय का खण्डन वेदान्त ने न किया हो, किन्तु अप्रधान का खण्डन किया हो, तो योग के अप्रामाणिक होने का कोई कारण नहीं है और फिर योग-दर्शन के भाष्य निर्माण न करने के लिये वेदव्यास को भी कोई प्रबल हेतु नहीं है।

योग-दर्शन का पहला सूत्र है "अथयोगानुशासनम्"। इस सूत्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि योग का प्रतिपादन करना

ही योग-दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। प्रधान महत् अहंकारादि पदार्थों का निरूपण योग-दर्शन का मुख्य उद्देश्य नहीं है, किन्तु गौण है। अतएव योग-दर्शन ने अपने लिये नये पदार्थ नहीं बनाये हैं, किन्तु कतिपय पदार्थों का मानना उसके लिये आवश्यक था। बिना अवलम्ब के दर्शन का उपदेश नहीं हो सकता। इसी लिये योग-दर्शनकार ने सांख्य के पदार्थ ले लिये। न्याय वैशेषिक के पदार्थ योग के लिये उपयुक्त नहीं थे इस कारण वेदविरोधी होने पर भी योग-दर्शनकार ने सांख्य के पदार्थों को ग्रहण किया, क्योंकि सांख्य-दर्शन के पदार्थ अध्यात्म विद्या के अधिकांश उपकारक हैं। योग ने सांख्य-दर्शन के पदार्थ ले लिये हैं अवश्य, पर उन पदार्थों का समर्थन योग-दर्शन ने नहीं किया है। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि पदार्थ निरूपण योग-दर्शन का मुख्य विषय नहीं किन्तु गौण विषय है। इसका मुख्य विषय है योग। भगवत्पूज्यपाद शङ्कराचार्य ने लिखा है "स च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात् प्रत्यासन्नो वेदान्तवाक्यस्य" वेदान्तियों के समान सांख्य भी कार्यकारण में अनन्यत्व मानते हैं, अतएव सांख्य वेदान्त का बहुत कुछ समीपवर्ती हैं। अच्छा, तो अब यह बात हुई कि योग-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग है और महदादि पदार्थों का निरूपण उसका प्रधान विषय नहीं है किन्तु अप्रधान। अब यह देखना है कि योग-दर्शन के प्रधान विषय का या अप्रधान विषय का वेदान्त ने खण्डन किया है।

एतेन योगः प्रत्युक्तः

इस सूत्र के द्वारा योग-दर्शन के प्रधान विषय का खण्डन

नहीं किया गया है, किन्तु अप्रधान का। ऊपर के सूत्र "एतेन" इस पद के द्वारा पहले कहा गया हेतु समझना चाहिये। पहला सूत्र है "इतरेषां चानुपलब्धेः" इस सूत्र का अर्थ यह है कि सांख्य के माने हुए जगत् का कारण प्रधान और महदहंकारादिक पदार्थ वेद में नहीं पाये जाते, इसका वेद में उल्लेख नहीं है इस लिए सांख्यदर्शन का यह मत वेद-विरुद्ध और अप्रमाणिक है। इस सूत्र के बाद का सूत्र है "एतेन योगः प्रत्युक्तः" अर्थात् इस से योग का भी खण्डन हुआ। इसका तात्पर्य यही मालूम होता है कि योग-दर्शन में सांख्य की जो बातें ली गई हैं उनका भी खण्डन हुआ, क्योंकि दोनों ही बातें एक ही हैं। योग के मुख्य विषय के खण्डन से इस का अभिप्राय नहीं है। यह बात स्पष्ट मालूम होती है। प्रधान महदहंकारादि का वेदों में पता नहीं इस लिये योग विषय का खण्डन हुआ नितान्त अनुचित है ? क्योंकि प्रधान आदि से योग का कोई सम्बन्ध नहीं, इनका श्रुति में उल्लेख न होने से योग के अप्रामाणिक होने का कोई कारण नहीं। श्रुतियों में योग का तो उल्लेख पाया जाता है।

"तां योगमिति मन्यन्ते, विद्यामेतां योग-विधिंच कृत्स्नाम्।"

इन श्रुतियों में योग का स्पष्ट उल्लेख है, फिर श्रुत्युक्त अतएव प्रमाणिक योग के लिये अप्रामाणिक कहना वेदान्त-सूत्रों के लिये संभव कैसे कहा जा सकता है। योगकथित आसनों का भी वेद में पता चलता है।

"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं ।"

"एतेन योगः प्रत्युक्तः ।"

इस सूत्र के भाष्य में भगवत्पादाचार्य ने लिखा है:—

"एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यादिशति, तत्रापि श्रुति-विरोधेन प्रधानं स्वतंत्रमेव कारणं महदादीनि च कार्याणि । अलोकवेदप्रसिद्धानि कल्पन्ते"

अर्थात् इस सांख्यस्मृति के प्रत्याख्यान से योग स्मृति का भी प्रत्याख्यान समझना चाहिये, क्योंकि योगदर्शन में भी श्रुति विरुद्ध प्रधान स्वतंत्र कारण माना गया है और महदादिक कार्य पर यह लोकवेद-विरुद्ध है । योग-दर्शन में यद्यपि प्रधान आदि का उल्लेख है, पर इन पर योग दर्शन निर्भर नहीं है। अतएव योगशास्त्र-प्रणेता ने कहा है:—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति । यत्र दृष्टि-पथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ।

गुणों का परम रूप अर्थात् उन का अधिष्ठान आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता, और जो दृष्टिगोचर होते हैं, प्रधान महदादिक, वे माया के समान तुच्छ है ।

बिना अवलम्ब के योग नहीं हो सकता, इसी लिये योग-दर्शन में गुणों का उल्लेख किया गया है और कोई कारण नहीं है और न योग-दर्शन में इन की प्रधानता ही है । वह इन को माया के समान तुच्छ समझता है इस बात को मान लेने के

कई कारण हैं। अनन्तदेव ने आर्या छन्दों में एक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में उन्होंने वेदान्त के सिद्धान्तों का समर्थन किया। सांख्य का जो मत उनके अनुकूल है उसका उन्होंने विरोध नहीं किया है। और विरोध का कोई कारण भी न था। इसी अनन्तदेव के अवतार योगसूत्रप्रणेता पतञ्जलि हैं। फिर ये वेदान्त मत के विरुद्ध कैसे लिख सकते हैं, उनका खंडन ही कोई कैसे कर सकता है।

वाचस्पति मिश्र भामती में "एतेन योगः प्रत्युक्तः" सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:— नानेन योगशास्त्रस्य हैरण्यगर्भपातञ्जलादेः प्रामाण्यं निराक्रियते, किन्तु जगदुपादानस्वतंत्रप्रधानतद्विकारमहदहंकारपंचतन्मात्रगोचरं प्रामाण्यं नास्तीत्युच्यते। नचैतावतैषामप्रामाण्यं भवितुमर्हति। यत्पराणि तानि तत्राप्रामाण्येऽप्रामाण्यमश्नुवीरन्। न चैतानि प्रधानादिसद्भावपराणि, किन्तु योगस्वरूप तत्साधन तदवान्तर फल विभूति तत्परम फल कैवल्यव्युत्पादनपराणि।

अर्थात् इस से हिरण्यगर्भ पतञ्जलि आदि महर्षियों के प्रणीत योग-शास्त्र की सब विषयों में अप्रामाणिकता नहीं बतलायी जाती, किन्तु जगत् का कारण स्वतंत्र प्रधान है, और उनके कार्य महदहंकार आदि हैं, इस विषय में योग-शास्त्र की अप्रामाणिकता बतलायी जाती है। इससे समस्त योगशास्त्र अप्रामाणिक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रधान आदि की सत्ता

बतलाना योगशास्त्र का मुख्य विषय नहीं है। किन्तु योग उनके साधन, अवान्तर फल तथा परम फल आदि का निरूपण करना ही इसका मुख्य तात्पर्य है। उस विषय में योग-शास्त्र के अप्रामाणिक होने का कोई कारण नहीं है।

एक और बात है, महाभारत और पुराण वेदव्यास ही ने बनाये हैं, महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में तथा पुराणों में योग के उपदेश विस्तार के साथ दिये हैं। ऐसी दशा में यह मान लेना नितान्त युक्तिसंगत है कि पातञ्जल योग-शास्त्र का भाष्य महर्षि वेदव्यास का ही बनाया है।

भोजराज ने पातञ्जल-दर्शन की एक वृत्ति बनायी है। जो भोजवृत्ति कही जाती है। उसकी उपक्रमणिका में उन्होंने लिखा है:—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

अर्थात् जिन्होंने योग के द्वारा चित्त का मल, व्याकरण के द्वारा वचन का मल और वैद्यक के द्वारा शरीर का मल दूर किया है, उस मुनिप्रवर पतञ्जलि को अञ्जलिबद्ध होकर प्रणाम करता हूँ। इस से मालूम पड़ता है कि भोजराज के मत में व्याकरण महाभाष्यकर्ता और योगदर्शन-कर्ता दोनों एक ही हैं; पतञ्जलि अनन्तदेव के अवतार हैं, और उन्होंने ही व्याकरण महाभाष्य की रचना की है। इस विषय में भारतीय आचार्यों में मतभेद नहीं है। पर इतिहासवेत्ता इस

विषय में तर्क उपस्थित करते हैं। वेदव्यास का समय दूसरा है और पाणिनि का समय दूसरा, व्यासदेव के बहुत पीछे पाणिनि का समय आता है और पाणिनि के बहुत समय के बाद पतञ्जलि का भाष्य बनाया गया है। पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन के वार्तिक बने हैं। वार्तिकों के बनने के बाद महाभाष्य का निर्माण हुआ है, महाभाष्य में वार्तिकों पर खूब खण्डन खण्डनात्मक विचार हुए हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि वेदव्यास के बहुत दिनों के बाद पतञ्जलि का समय इतिहास में आता है। इसी कारण कुछ लोग कहते हैं कि योगसूत्रों का भाष्य वेदव्यास का बनाया नहीं है। योगसूत्र और व्याकरण-महाभाष्य के कर्त्ता एकही पतञ्जलि के होने में मतभेद हो सकता है, पर ऊपर लिखी बातों की तुच्छता बतलाना सहज है। वेदव्यास चिरजीवी हैं। अनन्तदेव किस समय पतञ्जलि के रूप में आविर्भूत हुए थे, और ये कितने दिनों तक विराजमान रहे, इस का कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। वेदव्यास के आविर्भाव के बहुत बाद महाभाष्य रचित हुआ है इस से यह कैसे साबित हुआ कि पतञ्जलि भी उन के बहुत पीछे हुए हैं। इस कल्पना को भी प्रामाणिक मान लें तो भी चिरजीवी वेदव्यास के लिये योगसूत्रों का भाष्य बनाना असंभव नहीं माना जा सकता पतञ्जलि योगी थे, योग के प्रभाव से आयु बढ़ाई जा सकती है यह बात विद्वानों को मालूम है। इस समय भी संयम से रहने वालों की अधिक आयु देखी जाती है। काश्मीर के इतिहास में एक राजा के तीन सौ वर्ष तक जीने की बात स्पष्ट लिखी है। अतएव योगियों के दीर्घजीवी

होने में किसी प्रकार का संदेह करना उचित नहीं। अन्य बातों के निर्णय का भार हम ऐतिहासिकों पर छोड़ते हैं।

पातञ्जल-दर्शन में १६५ सूत्र हैं, और चार पादों में ये सूत्र विभक्त हैं। इन पादों के नाम यथाक्रम से ये हैं:—समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद। इन अध्यायों में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है वह इनके नाम से ही मालूम होता है।

वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्रों पर एक टीका लिखी है। उसमें प्रत्येक पाद की समाप्ति में एक श्लोक द्वारा उन्होंने उस पाद के विषयों का अच्छा दिग्दर्शन करा दिया है।

समाधि पाद का अन्तिम श्लोक:—

योगस्योद्देश्यनिर्देशौ तदर्थं वृत्तिलक्षणम्।
योगोपायाः प्रभेदश्च पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः॥

योग का उद्देश्य और लक्षण चित्त वृत्तियों के लक्षण, योग के उपाय और योग के भेद इन विषयों का वर्णन प्रथम समाधि पाद में है।

साधन पाद का अन्तिम श्लोक:—

क्रियायोगं जगौ क्लेशान् विपाकान् कर्मणामिह।
तद्दुःखत्वं तथा व्यूहान् पादे योगस्य पंचकम्॥

क्रियायोग क्लेशकर्मविपाक कर्मफल का दुःखमयत्व और उसका हेयत्व, हेयहेतु ज्ञान ज्ञानोपाय इन विषयों का निरूपण दूसरे पाद में हुआ है।

विभूति पाद का अंतिम श्लोकः—

अत्रान्तरंगाण्यंगानि परिणामाः प्रपंचिताः ।
संयमाद्भूतिसंयोगस्तासु ज्ञानं विवेकजम् ॥

योग का अन्तरंग अंग परिणाम संयमविशेष द्वारा ऐश्वर्य-विशेष की उपलब्धि और विवेकज ज्ञान इन विषयों का प्रति पादन तीसरे पाद में किया गया है ।

चौथे पाद का अन्तिम श्लोकः—

मुक्त्यर्हचित्तं परलोकमेयज्ञसिद्धयोधर्मधनः समाधिः ।
द्वयी च मुक्तिः प्रतिपादितास्मिन् पादे प्रसंगादपि-
चान्यदुक्तम् ॥

मुक्ति योग्य चित्त, परलोक सिद्ध, वाह्यार्थ सद्भाव सिद्धि, चित्तातिरिक्त आत्मा की सिद्धि, धर्म मेघ समाधि जीवन्मुक्ति विदेह कैवल्य आदिका निरूपण इस कैवल्य पाद में किया गया है । ये विषय प्रधान हैं इनके अतिरिक्त और भी प्रसंगो-पात्त विषयों का वर्णन किया गया है ।

वेदव्यास भाष्य, वाचस्पति मिश्र की तत्ववैशारदी नाम की टीका, भोजराज की वृत्ति और विज्ञानभिक्षु का योगवार्त्तिक, योग-दर्शन के ये ग्रन्थ इस समय प्रसिद्ध हैं । इस दर्शन के और भी प्रकरणग्रन्थ तथा टीकाग्रन्थ देखे जाते हैं । दुःख की बात है कि आजकल योग-दर्शन के अध्यापकोंका एक प्रकार से अभाव हो गया है और इसी कारण इस दर्शन के ग्रन्थों का भी लोप होता जाता है ।

राजा जनक।

इस समय बिहार का उत्तरी भाग तिरहुत कहा जाता है, पहले इस भाग का नाम मिथिला था; जिनकी राजधानी जनकपुर में थी, राजधानी का जनकपुर नाम इस कारण हुआ कि यहाँ जनकवंश के राजाओं का राज्य था, इस वंश में वृहद्रथ जनक नाम के एक राजा हुए। इन में राजाओं के समस्त गुण वर्तमान थे, साथ ही ये तत्वज्ञानी भी थे। इनके समय में देशविदेश के विद्वान् तत्वज्ञानियों का खूब सम्मान होता था। समय समय पर राजा जनक तत्वज्ञानियों की सभा एकत्रित करते थे और उस सभा में अध्यात्मतत्वों पर विचार होता था, वाद-विवाद होता था। अनेक ऋषि मुनि राजा जनक के यहाँ तत्वज्ञान-सम्बन्धी उपदेश लेने को आते थे। प्रसिद्ध तत्वज्ञानी शुकदेव जी ने भी जनक से तत्वज्ञान का उपदेश लिया था, राजा जनक स्वयं तत्वज्ञानियों के साथ वाद-विवाद करते थे। उपनिषदों में इस बात के काफी सुबूत हैं। इनके पिताका नाम देवरात जनक था। इस कारण ये दैवराति भी कहे जाते थे। इसी कुल में महारानी सीता का जन्म हुआ था, और भगवान् रामचन्द्र का उनसे ब्याह हुआ था। परशुराम ने भारत को क्षत्रियशून्य करने का इकीसबार प्रयत्न किया था और वे प्रयत्न में सफल भी हुए थे। पर इस जनककुल का नाश उन्होंने नहीं किया, क्यों कि यह वंश ब्रह्मज्ञानी, तत्वज्ञ, धर्मात्मा और न्यायनिष्ठ था।

राजा वृहद्रथ जनक मुमुक्षु थे। ये ब्रह्मज्ञानियों को ढूँढ़ा करते थे और उनसे उपदेश ग्रहण करने के लिये उत्सुक रहा

करते थे। इस इच्छा को पूरा करने के लिए ये कभी सभा करते थे, कभी यज्ञ करते थे और इस उपलक्ष में ब्राह्मणों को निमन्त्रित करके उनसे ब्रह्मविचार करते थे। एक बार इन्होंने एक यज्ञ किया था और उस में याज्ञवल्क्य, आश्वलायन अर्तिभाग, भुज्यु, चाक्रायन, आरुणि, उद्दालक तथा गार्गी आदि ब्रह्मनिष्ठ स्त्री-पुरुषों को उन्होंने निमन्त्रित किया। यज्ञ समाप्त होने पर राजा जनकने बारह सौ गौएं जिनकी सींगे सोने की थीं मँगवायीं और सब ऋषियों से कहा कि आप लोगों में जो सबसे बड़ा विद्वान् हो वह इन गायों को ले जा सकता है। वहाँ सभी ब्रह्मज्ञानी थे, पर उन लोगोंने सोचा—यदि हम इन गायों को लेते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि हम अपने को सब ब्रह्मज्ञानियों से श्रेष्ठ समझते हैं। ऐसा करने से दूसरों का अपमान होगा। यही विचार कर किसी ने भी गायों को लेने का साहस नहीं किया। ऐसे समय याज्ञवल्क्य आगे आये और उन्होंने अपने प्रोक्तकारी नामक शिष्य को आज्ञा दी कि इन गायों को लेजाओ। याज्ञवल्क्य की बातें सुन कर वहाँ जो ऋषिमण्डल एकत्रित हुआ था उसमें खलबली मच गयी। लोग याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार होगये। गार्गी नाम की स्त्री ने इनसे खूब शास्त्रार्थ किया। याज्ञवल्क्य ने बड़ी धीरता से सभी के प्रश्नों का उत्तर दिया। इनका उत्तर प्रत्युतर बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है। राजा जनक का मनोरथ पूरा हुआ। वे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी ढूँढ़ते थे सो मिल गया। उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य को अपना गुरु बनाया। शतपथ ब्राह्मण में जनक और याज्ञवल्क्य के संवाद-

रूपमें बहुत सी जानने योग्य बातें लिखी हैं। श्वेतकेतु के साथ भी राजा जनक के प्रश्नोत्तर हुए हैं। ये सभी प्रश्नोत्तर अध्यात्म विषय पर हुए हैं और अध्यात्म-प्रेमियों के जानने योग्य हैं।

विवेकी मनुष्य साधारण बात पर भी गहराई के साथ विचार करते हैं और उस से लाभवान् होते हैं, अपने उस विचार से बड़े आवश्यक तत्वों का आविष्कार करते हैं जिस से उन को तो लाभ होता ही है संसारवासियों को भी लाभ होता है। राजा जनक भी ऐसे ही थे। एक बार राजा जनक अपने राजमहल में पलँग पर पड़े विश्राम कर रहे थे, अवस्था तन्द्रा की थी, उसी समय उन्हों ने एक स्वप्न देखा। उन्हों ने देखा कि—मिथिला राज्य पर किसी बाहरी शत्रु ने आक्रमण किया है, चारों ओर शत्रुओं से द्वार नगर घिर गया है; दोनों पक्षमें युद्ध प्रारम्भ होगया। जनक राज की सेना ने बड़ा पराक्रम दिखाया, पर प्रबल शत्रु का सामना वे न कर सके। शत्रुओं ने राजधानी पर अधिकार कर लिया। जनक का अधिकार जाता रहा, ये वहाँ से भाग गये, बन में भटकते फिरे, बड़े२ कष्ट उठाये, अन्त में भाग्यवश एक नगर मिला, राजा बहुत दिनों से भूखे थे। उन्होंने भीख माँग कर खिचड़ी का सामान इकट्ठा किया और वे खिचड़ी बनाने लगे। खिचड़ी तैयार हुई। राजा ने सोचा कि बिना घी के खिचड़ी कैसे खाई जायगी, इस लिए वे घी माँगने के लिए चले, कई जगह माँगने से थोड़ा सा घी मिल गया। राजा लेआय और खिचड़ी तैयार कर खाने के लिए किसी दूकान के नीचे अच्छी जगह गये। राजा भोजन करने के

लिए बैठना ही चाहते थे कि दो साँड़ वहाँ लड़ते २ आये जिस से खिचड़ी जमीन पर गिर गई और धूल में मिल गई। इस से राजा को दुःख हुआ, उन्होंने कहा—हाय! यह भाग्य है! यह प्रारब्ध का खेल है! मेरा ऐसा भाग्य! अब मेरी क्या गति होगी? इस समय राजा की नींद टूट गयी।

नींद टूटने के साथही साथ स्वप्न की सभी बातें अदृश्य हो गयीं। राजा जनक ने देखा कि सामने दास-दासीवृन्द खड़े हैं, और उन की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे हैं बहुमूल्य वस्तुओं से सज्जित कमरे में वे बहुमूल्य पलँग पर बैठे हैं। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वे चिन्तामग्न हो गये। वे सोचने लगे कि कौन बात ठीक है, स्वप्न वाली या जो अब देख रहा हूँ? वह। राजा सोकर उठे थे, दास, दासियाँ चारों ओर सेवा के लिए खड़ी थीं, पर राजा चुप थे, उदास थे, इस से उनके सेवकों को बड़ी चिन्ता हुई। राजा की तबियत कैसी है इस बात की शंका ने लोगों के मन को व्याकुल करडाला। पर राजा ने किसी ओर भी ध्यान न किया। उन्होंने सोच विचार कर एक प्रश्न बनाया—"यह सच कि वह" और विद्वान् के द्वारा इस प्रश्न का निपटारा करना निश्चय किया। राजा की आज्ञा से बड़े २ विद्वान् देश-विदेश से बुलाये गये। राजमहल में उनका आदर-सत्कार हुआ और उनके सामने—"यह सच कि वह" प्रश्न उपस्थित किया गया। इस प्रश्न का उत्तर देना सीधा न था, कठिन था और विद्वानों के लिए भी कठिन था। कोई विषय तो था नहीं; फिर उत्तर क्या दिया जाता? राजा का प्रश्न एक पहेली था और पहेली का उत्तर देना सभी का काम

नहीं । एक दिन एक बड़े विद्वान् राजा के पास आये। राजा ने उन्हें अपने सिंहासन पर बैठाया और उनके सामने अपना प्रश्न रखा, पर उन पण्डित जी की भी वही दशा हुई जो औरों की हुई थी। पण्डित जी जाने के लिए उद्यत हुए। राजाने कहा—महाराज ! मैं आपका सेवक हूँ, मेरे लिए यह प्रश्न इतना कठिन है कि मैं स्वयं इसका कोई समाधान नहीं कर सकता; और जब तक इस प्रश्न का समाधान नहीं होता तब तक मेरे चित्त की चंचलता दूर नहीं हो सकती। अतएव मेरी प्रार्थना है कि आप तब तक यहीं रहें, आप स्वयं इस बात का विचार करें और मेरे प्रश्न का समाधान करें। आप के समान विद्वान् के लिए कठिन नहीं है। अतएव मेरे इस निवेदन पर ध्यान दें और तबतक यहीं रहने की कृपा करें जब तक मेरे प्रश्न का समाधान न हो।

एक समय राजा जनक पालकी में बैठ कर घूमने के लिए गये। उन के साथ अन्य राजकर्मचारी थे, कई घुड़सवार भी थे। राजा की सवारी एक गली में गयी, रास्ता चौड़ा न था, मुश्किल से उधर से राजा की पालकी निकल सकती थी, उसपर उस रास्ते के बीच में एक बालक बैठा था जिसके अंग कई जगह से टेढ़े थे। उसका हटना आसान नहीं था। राजा के नौकरों ने उसे हट जाने के लिए कहा। एक घुड़सवार उस बालक के पास पहुँचा और उससे बोला—कौन है रे ! किनारे चल, राजा जनक की सवारी आ रही है। घुड़सवार की बातें सुनकर उस बालक ने क्रोध से कहा—क्या तुम अन्धे हो, क्या तुम्हारी आँखों से दिखाई नहीं पड़ता की जो हमसे पूछ रहे हो कि तू कौन है, मूर्ख ! रास्ता छोड़ने का अधिकार

किस को है यह तू जानता नहीं है, तेरी तो क्या बिसात मेरी समझ से तो तेरे राजा को भी यह बात मालूम नहीं है। जा, मैं मार्ग से नहीं हटता, मैं तेरी आज्ञा नहीं मानता, तू अपने राजा से जाकर कह कि मार्ग बन्द है, दूसरे मार्ग से जायँ। घुड़सवार को जो राजमन्त्री था इस बालक की बातों से बड़ा आश्चर्य हुआ, वह एक शब्द भी न बोल सका। वह राजा के पास लौट गया और राजा से सभी बातें उसने कह सुनायीं। राजा ने कहा—मन्त्री! तुम जो बातें बतला रहे हो उन से मालूम पड़ता है कि उस बालक का कहना ठीक है, उसके चिन्हों—यज्ञोपवीत आदि—को देखकर तुम्हें स्वयं जान लेना चाहिए कि यह ब्राह्मण है। पूछना उचित न था। उसको मार्ग से हटजाने की तुम्हारी आज्ञा भी ठीक नहीं है, क्यों कि जैसा तुमने बतलाया वह ब्राह्मण बालक मालूम पड़ता है, हमलोग क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण क्षत्रिय के लिए रास्ता नहीं छोड़ सकता। दूसरी बात यह है कि उसके शरीर की जैसी दशा है उसको देखते हटने के लिए उससे कहना उचित नहीं मालूम पड़ता। मन्त्री! इन बातों पर जब मैं विचार करता हूँ तो मुझे मालूम पड़ता है कि वह बालक कोई तेजस्वी मालूम पड़ता है। मैं उसको देखना चाहता हूँ। तुम पुनः उसके पास जाओ और उसे मेरे यहाँ ले आओ। राजा की आज्ञा से मन्त्री पुनः उस बालक के पास गया और जाकर उसने कहा—ब्राह्मणपुत्र! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, मेरे अपराध क्षमाकर करें। ब्राह्मणपुत्र! राजा जनक आपको बुलाते हैं, आपके लिए रास्ते में खड़े हैं। कृपा कर आप उनके पास चलें। बालक ने कहा—यह बड़े आश्चर्य

की बात है, इतनी बड़ी गुस्ताखी ! जो राजा प्रजा को न्याय पर चलाता है, जो राजा प्रजा को न्यायमार्ग से विचलित नहीं होने देता, वही यदि स्वयं न्यायमार्ग का तिरस्कार करे तो इस से बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है। ऐसी दशा में क्या वह राजा अपनी प्रजा को सन्मार्ग पर चला सकता है ? राजा यदि न्यायासन पर बैठा हो तो उसे अधिकार है कि वह सब को अपने पास बुलावे, पर तुम्हारा राजा तो यहाँ मार्ग में खड़ा है, फिर वह मुझ अशक्त ब्राह्मण को क्यों बुलाता है ? इसे उन्माद कहते हैं। जाकर अपने राजा से कहो—मैं नहीं आसकता, वे आना चाहें आवें। राजा ने मन्त्री से ये बातें सुनीं और उनको बड़ा आश्चर्य हुआ, उन्होंने अपने मनमें कहा—अवश्य ही यह कोई साधारण बालक नहीं है, इसके पास चलना चाहिए और इस को देखना चाहिए। राजा उस बालक के पास गये। राजा ने प्रणाम करके कहा—महाराज ! आपका स्वागत है, आपने हमारे नगर में पधार कर बड़ी कृपा की। आपके पिता का क्या नाम है और आपका क्या नाम है ? आपका इस नगर में पधारने का उद्देश्य क्या है ?

बालक का स्वरूप बड़ा ही विलक्षण था, उस को देखते ही हँसी आती थी। पर राजा को भय था कि कहीं यह क्रोधी बालक शाप न दे दे। इसलिए राजा ने अपने को बड़े प्रयत्न से सम्भाला और ऊपर लिखे प्रश्न पूछे। बालक ने राजाके प्रश्नों का यों उत्तर दिया—मेरे पिता का नाम होडऋषि है, मेरे पिता का निवासस्थान सरस्वती तीर पर है। पर मेरे पिता घर नहीं रहते। इससे मैं अपनी माता के साथ ननिहाल में रहता हूँ। मेरा नाम अष्टावक्र है, क्योंकि मैं

अंगों से टेढ़ा हूँ। मैंने सुना है कि राजा जनक का एक सन्देह है और उसी को दूर करने के लिए उन्हों ने अनेक ऋषि मुनि बुलाये हैं, पर उसका समाधान अभी तक नहीं हुआ है। मैं ने यह भी सुना है कि राजा ने उन ऋषि मुनियों को अपने यहाँ रोक रखा है और वे बेचारे अपने कुटुम्ब से दूर कई वर्षों से पड़े हैं। पर अभीतक उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं हुआ। इससे, सम्भवतः राजा का यह विचार हो सकता है कि देश में अब कोई विद्वान् नहीं रह गया है, इसी कारण मैं आया हूँ। क्या वह राजा जनक तुम्हीं हो? तुम्हारा कैसा प्रश्न है जिसका उत्तर अभी तक नहीं हुआ? राजा बोले—आप मेरे प्रश्न का उत्तर देने के लिए कष्ट कर पधारे हैं यह बड़े आनन्द की बात है। आप कृपा कर मेरे स्थान पर पधारें, मुझे पवित्र करें, मेरे स्थान को पवित्र करें, मैं वहीं अपना प्रश्न निवेदन करूँगा। अष्टावक्र ने राजभवन में जाना स्वीकार किया, राजा की आज्ञा से अष्टावक्र एक अच्छे स्थान में ठहराये गये; उनके रहने का सब प्रबन्ध किया गया। दूसरे दिन एक बड़ी सभा हुई। उस में अनेक विद्वान् ऋषि मुनि आये, अष्टावक्र भी बुलाये गये। अष्टावक्र का नाम लोगों के लिए एक आश्चर्यप्रद बात थी। उनके स्वरूप के विषय में जो चर्चा थी वह और भी लोगों को उनके दर्शन के लिए उत्सुक बनाती थी। इसी समय अष्टावक्र आये। उनके अंग कई जगह से टेढ़े थे। इस विलक्षण मूर्त्ति को देखने से स्वाभाविक हँसी आती थी। जब अष्टावक्र जी राजसभा में पधारे उस समय उन को देखने से लोगों को हँसी आगई। लोगों को हँसते देख अष्टावक्र जी भी हँसने

लगे। राजा ने उनका स्वागत किया, और ले जाकर उचित स्थान पर बैठाया। राजा ने पूछा—महाराज आप के हँसने का क्या कारण है? अष्टावक्र ने कहा—तुम्हारी इस मूर्ख सभा को देखने से हँसी आगयी। पर तुम क्यों हँसे, इस का कारण बतलाओ। राजाने कहा—इस का कारण मैं कहता हूँ और जो मैं समझता हूँ वही सच्ची बात मैं कहता हूँ; आप क्रोध न करें। मेरे मन में इस समय यह विचार आ रहा है कि जिस प्रश्न का उत्तर बड़े २ विद्वान्, ऋषि मुनियों से भी नहीं हो सका, उसका उत्तर आप कैसे दे सकेंगे? अष्टावक्र ने कहा—राजा! तू मूर्ख है, इसी से मुझे हँसी आयी। जो गुण-दोषों का विचार नहीं कर सकता, अच्छे-बुरे को पहचान नहीं सकता ऐसे सभासदों को साथ लेकर तुम प्रजा की भलाई कैसे कर सकते हो? उनका पालन कैसे कर सकते हो? राजसभा में सर्वगुण-सम्पन्न, सत्यासत्य-विवेकी, प्रौढ़-विचारवान् पुरुषों की आवश्यकता है, पर मैं देखता हूँ कि तुम्हारी सभा में नर शरीर धारी पशु एकत्रित हैं और इनकी सहायता से तुम प्रजापालन का दावा करते हो। इससे बढ़ कर हँसी की और कौन सी बात होगी? राजन्! प्यासे मनुष्य को गङ्गा के जल की आवश्यकता है या गंगातीर के सुन्दर होने की। यदि तीर सुन्दर हुआ, बीच में जल न हुआ तो क्या प्यास बुझ जायगी? भूखे मनुष्य को अन्न चाहिए या सोने-चाँदी के बरतन। मैं टेढ़ा हूँ, कुबड़ा हूँ, मेरे हाथ पैर टेढ़े हैं, पर इस से क्या? तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर तो मेरे ये अङ्ग देंगे नहीं, तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मेरी वाणी देगी, पर वह कुबड़ी नहीं, टेढ़ी नहीं, काली नहीं, अतएव तुम

इन बातों की चिन्ता मत करो, तुम्हारा प्रश्न क्या है, शीघ्र कहो। राजा ने उठकर हाथ जोड़कर पूछा—महाराज ! मेरा यह प्रश्न है—"यह सत्य कि वह"। अष्टावक्र ने कहा—बस, इस प्रश्न को तुमने इतना बड़ा बना रखा है, इसी लिए अनेक ऋषि-मुनियों को अपने यहाँ ठहरा कर तुम कष्ट दे रहे हो ? राजा जनक ! तुमने अपने प्रश्न को गोलमाल बना कर बड़ी भारी भूल की। यदि तुमने साफ साफ पूछा होता तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर बहुत पहले हो गया होता, पर तुमने वैसा नहीं किया, अपने प्रश्न को गोलमाल बनाकर अपने आप स्वयं भी उलझन में पड़े और दूसरों को भी तुमने उलझन में डाल दिया। अच्छा, जैसा गोलमाल प्रश्न है वैसा ही उत्तर भी सुनो—"जैसा यह तैसा वह"। इन दोनों में कोई भेद नहीं, जैसा वह था, दीख पड़ता था पर है नहीं, वैसे ही यह भी है, दीख पड़ता है पर है नहीं। इस बात को सुनते ही राजा मुनि के चरण पर गिर पड़े और सद्गुरु, सद्-गुरु कहने लगे। बात यह थी कि राजा के प्रश्नों का उत्तर हो चुका था। पर सभासदों का शक इस बात से और बढ़ गया। क्योंकि इस राजा के प्रश्न ने लोगों में एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया था, लोग उस के विषय में कुछ समझ नहीं सकते थे। जो बात प्रश्न रूप में समझ नहीं पड़ती वह उत्तर से समझी जा सकती है, पर उत्तर भी गोलमाल ही हुआ। इस से सभासदों की तृप्ति नहीं हुई, उन लोगों ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज ! आप की शङ्का दूर हो गई, पर हम लोगों की शंका बढ़ गई, कृपा कर आप हमलोगों की ओर से मुनि महाराज से निवेदन करें कि वे इस प्रश्नोत्तर को विशद रूप से

समझावें । इस निवेदन को सुन "राजा" ने कुछ न कहा, अष्टावक्र जी बोले—राजा ! इन लोगों का कहना ठीक है । मेरे इस उत्तर से केवल तुम्हारा ही समाधान हुआ है, अतएव अब मैं इस को और विस्तार के साथ कहता हूँ ।

अष्टावक्र ने कहा—स्वप्न में जो दृश्य दिखाई पड़ता है, जो बातें सुनाई पड़ती हैं, वे सब असत्य हैं, उसी प्रकार से इस संसार के दृश्यभी असत्य हैं । जैसा स्वप्न वैसा संसार । इसीं कारण विवेकी महात्माओं ने संसार को स्वप्नवत् बतलाया है । राजा ने स्वप्न में राज्य खोया, इन्हें भूख लगी, ये बाजार २ भीख माँगते फिरे, बड़े कष्ट उठा कर हँड़िया में खिचड़ी इन्होंने बैठायी, पर खाने के समय एक बैल आया और उसने हँड़िया फोड़ दी तथा खिचड़ी धूल में मिला दी । तात्पर्य यह हुआ कि राजा के सभी प्रयत्न आशा में ही बीते, फल कुछ न हुआ, भूख न मिटी, राजा की दशा में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ । राजा का यह राज्य उसी प्रकार है । इस के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण दिया जा सकता है । जिस दिन राजा को स्वप्न हुआ उस समय का दुःख और नींद खुलने पर राज्यवैभव का सुख इस समय राजा के पास इन दोनों में की कौन वस्तु वर्तमान है ? स्वप्न दशा का दुःख तथा नैराश्य का इस समय राजा अनुभव कर रहे हैं । अथवा स्वप्न के पश्चात् जो आनन्द हुआ था वह क्या आज वर्तमान है ? नहीं इन में एक भी वर्तमान नहीं है, जिस प्रकार स्वप्न झूठा है उसी प्रकार यह संसार झूठा है, ये दोनों विनाशी हैं । इन में भेद केवल इतना ही है कि एक शीघ्र विनाशी है और दूसरा कुछ दिन ठहर कर विनाश को प्राप्त होता है । एक नींद की

अवस्था में दीख पड़ता है और दूसरा जागरणकी अवस्था में। एक की असत्यता का ज्ञान शीघ्र ही हो जाता है और दूसरी की असत्यता कुछ दिनों के बाद समझ में आती है। स्वप्न के उदाहरण में संसार की असत्यता बतलाना ही स्वप्न बनाने का परमात्मा का उद्देश्य है। हम लोग चित्र देखते हैं, चित्र में उस आदमी का पूरा २ स्वरूप हम लोग देखते हैं; उसी प्रकार स्वप्न में संसार का चित्र है, संसार का पूरा २ रूप उस में देखा जा सकता है। इसी लिए मैंने कहा कि जैसा वह वैसा यह, इस में भेद नहीं। पर स्वरूप जानने के लिए सरासर विवेक की आवश्यकता है। स्वप्न सभी को आते हैं। पर उन के सत्यासत्य के निर्णय की सच्ची जिज्ञासा राजा जनक के समान मनुष्यों ही के हृदय में उत्पन्न होती है। यदि राजा जनक के हृदय में यह सन्देह उत्पन्न न होता तो इस स्वप्न को इतना महत्व न मिलता; किसी बात का निर्णय भी न होता। अष्टावक्र की बातें सुन कर समूची सभा आनन्दित हुई। वृद्ध ऋषि मुनि अष्टावक्र की प्रशंसा करने लगे और उन के दीर्घजीवी होने की कामना करने लगे। राजा जनक उन के चरणों पर पड़े और हाथ जोड़ कर उन्होंने कहा—महाराज! आप ने मेरा सन्देह दूर किया, पर एक नया सन्देह उत्पन्न हो गया, कृपा कर आप मेरे इस संदेह को भी दूर करें। राजा ने कहा—यह बात तो समझ में आई कि जैसा वह वैसा यह अर्थात् दोनों असत्य हैं। पर ऐसी दशा में सत्य क्या है, सार क्या है—यह प्रश्न स्वभाव से ही उठता है। अतएव महाराज! दास की बड़ी विनम्र यह प्रार्थना है। गुरुदेव इस प्रश्न का उत्तर देकर दास को कृतार्थ करें।

संसार और स्वप्न दोनों असार हैं, पर सार कौन है इस प्रश्न के उत्तर में अष्टावक्र ने कहा—राजा ! तुमने इस प्रश्न के द्वारा अपनी मुमुक्षुता प्रकाशित की है, इस में संदेह नहीं, इस प्रश्न के रहस्य जानने वालों की तो बातही दूसरी है; केवल इस प्रकार की जिज्ञासा करने वाला पुरुष भी भाग्यशाली समझा जाता है। अच्छा, अब अपने प्रश्न का उत्तर सुनो, संसार और स्वप्न ये दोनों मिथ्या हैं, असार हैं, पर इसका अनुभव होता है। अनुभव करने वाला कोई पदार्थ है वही सार है और वह स्वयं परमात्मा है। वह समस्त संसार में व्याप्त हो रहा है। इस लिये उसका नाम विष्णु है। तुम, मैं, ये ऋषि, तुम्हारे सभासद तथा इस समस्त चराचर विश्व में यह साक्षी रूप से वर्तमान है वही नित्य है और सार है, पुराण तथा वेद उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। उसी की प्राप्ति के लिए भक्त भक्ति करते हैं, ज्ञानी विचार करते हैं और योगी ध्यान करते हैं। वही इस विश्व को अपनी इच्छा से उत्पन्न करता है, इस का पालन तथा संहार करता है। युग २ में अवतार धारण कर धर्म की स्थापना करता है। ज्ञानियों और भक्तों को बड़े प्रेम से रक्षा करता है। वही इन्द्रादि देवताओं के रूप में तथा समस्त प्राणियों के रूप में प्रकाशित हो रहा है। वही जड़ और चेतन है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। वह निर्गुण भी है सगुण भी है, वही निराकार है और साकार भी है। वही अमूर्त है और मूर्तिमान् है, वह सर्वज्ञ है, उसके लिए सभी बातें कही जा सकती हैं। वह सब जगह देखा जा सकता है। वही सार है, राजन् ! तुम उसी को सार समझो। अष्टावक्र

के इन उपदेशों को सुनकर राजा की समूची सभा चित्र के समान हो गई। राजा आनन्द से गद्गद हो गये। उन्होंने सोचा—मुझ अज्ञानी को आज सद्गुरु मिले हैं। स्वयं परमात्मा ने ही कृपा कर मेरे अज्ञान को दूर करने के लिये इन ज्ञानमूर्ति को भेजा है। बड़े भाग्य से यह समय मुझे मिला है। इस अमूल्य समय को व्यर्थ नहीं खोना चाहिए इनसे जरूर तत्वोपदेश ग्रहण करना चाहिए। उन्होंने कहा—हे गुरो! कृपालो! मेरे पूर्व जन्म के किसी भाग्य से ही आप यहाँ आये हैं, अब कृपाकर इस सार पदार्थ परमात्मा का स्वरूप मुझे बतलावें। परमात्मा कैसा है, उसका स्वरूप कैसा है, यह मैं जानना चाहता हूँ; कृपा कर बतलाइए। महाराज! मैं बड़ा अज्ञानी हूँ, पामर हूँ, इसका आपको साक्षात् अनुभव है, ऐसे पामर अज्ञानी का उद्धार आप ही के समान ब्रह्मज्ञानी महात्माओं के द्वारा हो सकता है। आप मेरे अधिकारी या अनधिकारी होने का विचार न करें। सूर्य इन बातों की ओर ध्यान नहीं देता, वह सब स्थान से अन्धकार हटाता है, सब को प्रकाश देता है। कौन पापी है, पुण्यात्मा है, इन बातों को बिना विचार किये ही महात्मा भी सब पर समान रूप से कृपा करते हैं। अतएव मेरी प्रार्थना आप स्वीकार करें, मुझे उपदेश दें। ....

परमात्मा का स्वरूप कैसा है इस प्रश्न के उत्तर में अष्टावक्र ने कहा—राजन्! उपदेश पीछे सुनना, तुम्हारे जिन प्रश्नों के उत्तर मैं ने दिये हैं, उन की दक्षिणा अब मुझे मिलनी चाहिए। राजा ने अपने कोषाध्यक्ष को आज्ञा देकर दो सोने के बड़े २ थालों में रत्न मँगवाये और वे

दोनों थाल अष्टावक्र जी को अर्पित किये। उन थालों को देखकर अष्टावक्र जी हँसने लगे। उन्होंने राजा से कहा—महाराज! इन थालों को लेकर मैं क्या करूँगा? राजा! तुम दो थाल रत्न हमको देना चाहते हो, पर तुमको मालूम नहीं कि ऐसी रत्न राशियों को एक क्षण में उत्पन्न करने की शक्ति हमलोगों में वर्तमान है। सिद्धियाँ दासी के समान हमलोगों के सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। फिर इन थालों को लेने से हमको क्या सन्तोष होगा। एक और बात है, धन की इच्छा से हम तुम्हारी सभा में नहीं आये हैं। प्रतिष्ठा भी हम नहीं चाहते। हमतो तुम्हारी सभा में इसलिए आए कि यदि तुम्हारी शंकाओं का उत्तर न होगा तो तुम समझ लोगे कि अब ब्राह्मणों का वह महत्व नहीं, अब उन में वैसी योग्यता नहीं। तुम्हारी ऐसी समझ ब्राह्मणों के लिये कलंक की बात होती। तुमने अपनी शंका मिटाने के लिए अनेक ऋषि मुनियों को बुला रखा था, उनको घर नहीं जाने देते थे, वे अपने कुटुम्ब से दूर तुम्हारे नगर में रह कर अनेक कष्ट उठाते थे; मैं तुम्हारी शंका दूर कर उनलोगों को छुट्टी दिलाने के लिए आया हूँ, मेरे इस कार्य से परमार्थ-सेवा होगी, यही मेरे आने का उद्देश्य है। राजन्! दक्षिणा में तुम वह वस्तु दो जिसे मैं चाहूं। राजाने कहा—महाराज! आज्ञा कीजिए, जो आपकी आज्ञा होगी वह वस्तु मैं आप की सेवा में अर्पित करूँगा। अष्टावक्र ने कहा-अच्छा, तो तुम अपना तन, मन और धन ये तीनों वस्तु मुझे दे दो। राजा ने संकल्प करके तीनों वस्तु मुनि को अर्पित करदी और वे हाथ जोड़ मुनि के सामने जाकर खड़े हो कर उपदेश सुनने की प्रतीक्षा करने

लगे। अष्टावक्र क्या उपदेश करते हैं यह बात समूची सभा उत्सुक हो कर देखने लगी। इसी समय बाहर से एक आवाज़ आई, सभी उसी की ओर देखने लगे। एक दीन ब्राह्मण राज-सभा में आया, उसने आकर कहा—महाराज जनकराज! मैं दुःखी ब्राह्मण हूँ। मेरी रक्षा करो। राजा जनक ने ब्राह्मण के दीन वचन सुने, दया से उनका हृदय गद्गद हो गया, उन्हों-ने ब्राह्मण की ओर फिर कर देखने की और पूछने की इच्छा की, कि तुमको क्या कष्ट है, मेरे राज्य में तुम को किस दुष्ट ने दण्ड दिया है, पर इसी समय उनके मन में यह विचार हुआ कि मैं तो अपना शरीर गुरु को अर्पण कर चुका हूँ फिर मैं अब उसकी ओर किस अधिकार से देखूँ, किस अधिकार से पूछूँ? मैं तो शरीर दे चुका, वाणी पर मेरे कोई अधिकार नहीं। इस प्रकार विचार कर राजा ने ब्राह्मण की ओर देखा भी नहीं, वे ज्यों के त्यों खड़े रहे। अपने लिए कोई आज्ञा देते न देख कर ब्राह्मण बहुत ही अधीर हो कर विलाप करने लगा। उसने कहा—मैं ऋणी हूँ, ऋण के बड़े भारी बोझ से दबा हूँ इस कारण महाजनों ने मेरी समस्त सम्पत्ति ले ली है। फिर मेरा ऋण दूर नहीं हुआ, मेरे कुटुम्बी अन्न-वस्त्र के बिना दुःखी हो रहे हैं, मेरे लिये कोई उपाय नहीं है। इसी से राजन्! मैं आपकी शरण आया हूँ; मैं इस समय दुःख परम्प-राओं से घिरा हूँ, आप की शरण इसी आशा से आया हूँ। आपके अतिरिक्त और कौन मेरे इस दुःख को दूर करेगा, इसी लिए मैं निवेदन करता हूँ कि महाराज मेरे दुःख की ओर ध्यान दें, महाराज के केवल ध्यान देने से ही मेरे समस्त क्लेश दूर हो जायँगे।

ब्राह्मण की यह प्रार्थना सुनकर राजा का हृदय बहुत व्याकुल हुआ। वे ब्राह्मण के दुःख दूर करने के लिए उद्यत हुए। राजा ने सोचा-ब्राह्मण को धन की आवश्यकता है, धन देने से इसका कष्ट दूर होगा। इस समय धन भी यहाँ पड़ा है; गुरु के देने के लिए जो धन मँगवाया था वह तो अभी यहीं पड़ा है। इतना धन पाने से ब्राह्मण की दरिद्रता दूर हो जायगी, यह सोच कर राजा ब्राह्मण को देना चाहते हैं, उसी समय उन्हे यह बात स्मरण हुई कि यह धन तो मेरा नहीं इस पर तो मेरा अधिकार नहीं। मैं तो अपना समस्त धन गुरु को दे चुका हूँ। इस पर गुरु का अधिकार है, मैं इस धन को देनेवाला कौन होता हूँ। यह सोच कर राजा चुपचाप खड़े रहे, उन्होंने ब्राह्मण से कुछ भी नहीं कहा। हाँ, केवल गुरु की ओर देखते रहे। राजा जनक का यह आचरण देख कर ब्राह्मण का आश्चर्य और क्रोध आया, उसने सोचा—गो-ब्राह्मणप्रतिपालक राजा जनक के सामने मैं इस तरह अपना दुखड़ा सुना रहाहूँ और ये चुप हैं। राजा का तिरस्कार करता हुआ वह बोला—कैसा विपरीत समय आया है। हाय, इस युग में भी कलियुग के दृश्य मुझे देखने पड़ते हैं। मुझे धिक्कार है कि मैं ऐसे लोभी दाम्भिक राजा के पास अपना दुखड़ा सुनाने आया हूँ, इस राजाने झूठे ही अपने को गो-ब्राह्मण प्रतिपालक मशहूर कर रखा है। इस से तो मेरे लिये अच्छा होता कि मैं किसी कुएँ में गिर कर प्राण दे देता और इस दुःख से छुटकारा पाता। ऐसा करने से मुझे दाम्भिक राजा का मुँह तो देखना नहीं पड़ता। ऐसे राजा का भी धिक्कार है जिस के द्वार से अतिथि निराश

जाता है। धिक्कार है उन मनुष्यों को जो इस राजा का असली रहस्य न जानकर इस की कृपणता और भ्रष्ट बुद्धि का ज्ञान न रख कर सदा इस की प्रशंसा किया करते हैं। अरे राजा! मेरे दीन वचनों को सुनकर तू मेरे दुःख तो कहाँ तक दूर करेगा उत्तर तक देते तुझसे नहीं बन पड़ता। क्या कहूँ, समय की बलिहारी है। ब्राह्मण की इन बातों को सुन कर राजा सोचने लगे कि इस ब्राह्मण का कहना सच है, मेरे द्वार से अतिथि का निराश जाना मेरी प्रतिष्ठा में धब्बा लगाता है। राजा यह सोच ही रहे थे, उसी समय उनके मन में एक दूसरा विचार आया। राजा सोचने लगे, मुझे इन बातों के सोचने का क्या अधिकार? मन भी तो मेरा नहीं। मैंने अपना मन भी तो गुरु को अर्पित कर दिया है। मेरा तन नहीं, मन नहीं और धन भी नहीं, ऐसी दशा में ब्राह्मण का उपकार ही क्या कर सकता हूँ। इस ब्राह्मण ने क्रोध से जो बातें कही हैं, उनका प्रभाव मन पर कुछ भी नहीं, मैं उन वचनों का पात्र नहीं। यह सोच कर राजा चुपचाप हाथ जोड़े गुरु की ओर देखते रहे, उस समय मालूम पड़ता था कि राजा जड़ है, उन पर किसी भी बात का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। अष्टावक्र ये सब बातें देखते रहे, उन्होंने राजा की दशा देख कर राजा से पूछा—आप कौन हैं? राजाने कहा—मैं जनक हूँ। अष्टावक्र ने राजा के शरीर को दिखा कर कहा कि इस में तुम किस को जनक कहते हो, तुम्हारे शरीर में जनक कहाँ है, क्या तुम मुझे यह बतला सकते हो? क्या तुम अपने मस्तक को, मुँह को, हृदय को, हाथ को, पेट को, पैर को, या बुद्धि को, इनमें से किस को जनक कहते हो? इस प्रश्न का

उत्तर राजा से देते न बना। राजा चुपचाप खड़े थे। जैसे पहले जड़ के समान राजा खड़े थे वैसे ही अब भी बने रहे। यह देख कर अष्टावक्र ने कहा—राजा यही तुम्हारे लिए ब्रह्मोपदेश है और यही सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है।

यह सुनकर राजा जनक ने कहा—महाराज! अब मैं वन में जाऊँगा मुझे राज्य से क्या प्रयोजन, अष्टावक्र ने कहा—तुम वन में कैसे जाओगे या मेरी आज्ञा के बिना जाओगे। तुमने अपना तन, मन और धन सभी मुझे दे दिया है अब तुम्हारे पास है क्या, अब तुम्हें किस वस्तु का त्याग करना है विचारो। अष्टावक्र की बातें सुन कर राजा चुप हो गये। उन्होंने कोई उत्तर न दिया, तब अष्टावक्र ने कहा-राजा! जैसे कोई किसी को थाती रखने के लिये देता है और वह उस दी हुई थाती की रक्षा करता है, उसी प्रकार तुम्हारे यह सब तन, मन, धन आदि हमारे हैं और मैं तुम्हारे पास थाती के समान रखता हूँ, तुम इनकी रक्षा करो, नीति से इनका पालन करो। इस प्रकार करने से तुम देह के रहने पर भी विदेह रहोगे। इस के पहले कोई विदेह नहीं हुआ है, पर तुम यदि इस प्रकार रहोगे तो तुम अवश्य विदेह कहे जाओगे। इतना कह कर अष्टावक्र ने राजा को राजसिंहासन पर बैठाया और उस दुःखी ब्राह्मण को बहुत सा धन देकर विदा किया। वहाँ जो ऋषि उपस्थित थे उन लोगों ने अष्टावक्र को प्रणाम किया और उन के दीर्घजीवी होने की कामना की। राजाने सब ऋषियों का सत्कार कर उन्हें विदा किया। अष्टावक्र के पिता कहोड़ ऋषि भी वहाँ आगये और उन्होंने मधुविला नाम की नदी में अष्टावक्र को स्नान कराया जिससे

उनका शरीर सीधा होगया और उस नदी का नाम "समंगा" पड़ा। अष्टावक्र अपने पिता और मामा के साथ वहाँ से अपने आश्रम को गये।

गुरु मत्स्येन्द्र नाथ।

इनका नाम गुरु मुछन्दर नाथ प्रसिद्ध है जो मत्स्येन्द्र का विगड़ा रूप है। ये नाथ-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं। इन के विषय में कहा जाता है कि इनका जन्म किसी मछली से हुआ था। एक समय समुद्र तीर पर महादेवजी पार्वती को ज्ञानोपदेश करते थे, पास ही एक मछली भी जो गर्भवती थी—उस उपदेश को सुन रही थी। महादेव के उपदेश से गर्भ में ही उस को ज्ञान संचार हो गया और जन्म लेने पर वही मत्स्येन्द्र नाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो हो, तथ्य क्या है, इस का ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है।

नाथ-सम्प्रदाय नाम का एक धार्मिक सम्प्रदाय प्रसिद्ध है। इसके अनुयायी विरक्त और हठयोगी होते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ ने भी अपने गुरु चौरंगीनाथ से हठयोग की शिक्षा ली थी। बहुत दिनों तक इन्होंने गुरुके पास ही रह कर हठयोग की क्रियाओं का अभ्यास किया, अपनी बुद्धि, ब्रह्मचर्य और साधना से ये शीघ्र ही योग क्रियाओं में प्रवीण हो गये। तदनन्तर इन्होंने देश का भ्रमण किया और प्रसिद्ध तीर्थस्थान नदियाँ पहाड़ और झील आदि की यात्रा की। तदनन्तर इन्होंने एक रमणीय स्थान में अपना आश्रम बनाया वहीं रह कर इन्होंने स्वयं योगक्रियाओं का अभ्यास किया और शिष्यों

को भी शिक्षा दी। कुछ दिनों के बाद गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने उस आश्रम का त्याग कर दिया और अयोध्या के पास जयश्री नामक नगर में ये रहने लगे। उस समय यह नगर विजयध्वज नामक राजा के अधिकार में था। गुरु मत्स्यैन्द्र नाथ यहाँ भी बहुत दिनों तक रहे, यहाँ इन्होंने एक अच्छा चमत्कार दिखाया था। इसी नगर में इन्होंने एक स्त्री को भस्म दिया था जिससे गुरु गोरखनाथ की उत्पत्ति हुई। (देखो गुरु गोरख नाथ।)

इस स्थान से गुरु मच्छेन्द्र नाथ पुनः देशभ्रमण करने के लिए निकले, साथ में कई एक शिष्य भी थे। रास्ते में किसी कारण वश ये अपने शिष्यों से अप्रसन्न हो और उन्हें छोड़ कर सिंहलद्वीप को चले गये। उस समय सिंहलद्वीप में स्त्री-राज्य था। वहाँ की सर्वप्रधान रानी ने गुरु मच्छेन्द्र नाथ का आदरपूर्वक स्वागत किया और अपने यहाँ रहने की प्रार्थना की। गुरु मत्स्येन्द्रनाथ वहीं रहने लगे। वहाँ ये अपने को भूल गये, फिर सम्प्रदाय और शिष्यों के स्मरण रहने की बात तो दूर की है। पर नाथ सम्प्रदायी इस बात को नहीं चाहते थे कि गुरु मत्स्येन्द्र नाथ हम लोगों से अलग हों, उनकी अमूल्य सहायता हम लोगों को प्राप्त होती थी उस से हम वञ्चित रहें। अतएव वे लोग चारो ओर ढूँढ़ने लगे पर पता नहीं लगा। गुरु गोरखनाथ भी इनको ढूँढ़ते थे। किसी प्रकार गुरु गोरखनाथ को इस बात की खबर लगी कि मत्स्येन्द्र नाथ सिंहलद्वीप में हैं। गोरखनाथ वहाँ पहुँचे और बड़े प्रयत्नों से गुरु मत्स्येन्द्र नाथ से मिले। गुरु गोरखनाथ अपने तपोबल से उनका मन अपने वश में किया और उन्हें साथ ही लेकर आये।

अनभ्यास से कोई भी विद्या हो भूल जाती है। मत्स्येन्द्र नाथ भी सिंहलद्वीप में जाकर सुख भोग करने लगे और इस प्रकार योगसाधन की ओर से वे नितान्त उदासीन हो गये। जब गोरखनाथ उन्हें ले आये, तब वे पुनः योगसाधन करने लगे। कुछ दिनों तक एक स्थान में रह कर भूली हुई विद्या को इन्होंने नया किया और पुनः ये चारों ओर भ्रमण करने लगे। उज्जयिनी के पास किसी नगर में ये आये थे उसी समय राजा भर्तृहरि भी विरक्त होकर बन के लिए निकले थे। वहीं दोनों की भेंट हुई। राजा ने दीक्षा देने की प्रार्थना की। गुरु ने खूब छान बीन कर जब राजा को दीक्षा देने योग्य देखा तब उन्होंने दीक्षा दी। इन्होंने राजा भर्तृहरि को योगाभ्यास भी कराया था। राजा भर्तृहरि की कीर्ति का प्रधान कारण इनकी शिक्षा ही है।

वृद्धावस्था में प्रभासक्षेत्र के पास एक आश्रम बनाया था और वहीं ये अपने भर्तृहरि आदि शिष्यों के साथ रहते थे। वहाँ रहने पर इन की बड़ी प्रसिद्धि हुई। कई राजा महाराजा इनके शिष्य हुए। योगविद्या का चमत्कार लोगों के ध्यान में आ गया और लोग इनके अनुयायी होने लगे। इन लोगों के योगसम्बन्धी चमत्कारों को देख कर चमत्कार-प्रेमी दुनियाँ इनकी शरण आवे इस में कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

इन्होंने हठयोग-प्रदीपिका नाम की एक पुस्तक बनायी है। इस पुस्तक के अतिरिक्त और भी कई योगशास्त्र की पुस्तकें इन्होंने लिखी हैं। ये नाथ-धर्म-सम्प्रदायी महात्मा थे यह बात लिखी जा चुकी है। इस सम्प्रदायवालों ने अपना

पारलौकिक उपकार तो किया ही होगा, यह बात हम लोगों को मान लेनी चाहिए, क्योंकि इस सम्बन्ध में तर्क वितर्क करने का अधिकार नहीं है, पर इस में सन्देह नहीं कि इन लोगों के द्वारा रसायन शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई थी। इस सम्प्रदाय के कई महात्माओं ने रसायन शास्त्र का बड़ा अनुशीलन किया था और उन लोगोंने इसमें सफलता भी पायी थी।

गुरु गोरखनाथ।

ये नाथ-सम्प्रदाय के आचार्यों में से हैं। इनके गुरु का नाम मच्छेन्द्र नाथ था। इन के विषय में जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जो प्राचीन पुस्तकों में इनका परिचय दिया गया है वह नीचे लिखा जाता है।

अयोध्या के पास जयश्री नामक नगर में सद्बोध नामक एक ब्राह्मण था,इस की स्त्री का नाम सद्वृत्ति था,उस नगर के राजा का नाम विजयध्वज था। उस जमाने में क्षत्रिय राजाओं के राज्य में ब्राह्मणों को बड़ा सुख था। उस समय एक तो ब्राह्मणों को विशेष कोई ज़रूरत न थी और जो ज़रूरत थी उसकी पूर्ति के लिए विशेष प्रयत्न या चिन्ता की आवश्यकता न थी। थोड़े से प्रयत्न से भी ज़रूरत रफा होजाती थी। राजा विजयध्वज के राज्य में सद्बोध ब्राह्मण भी बड़े सुख से रहता था। वह सदाचारी और धर्मात्मा था। उस की स्त्री पतिव्रता थी। एक गृहस्थ के लिये यह सुख कुछ कम नहीं होता। ब्राह्मण के दिन आनन्द से बीतते थे।

ब्राह्मण की उमर ढलने लगी, पर उसके घर कोई लड़का, लड़की नहीं हुई। इस कारण उनके सुखमय जीवन में भी वह एक दुःख की रेखा कभी २ चिन्ता के रूप में प्रकट हो जाती थी। एक समय गुरु मच्छेन्द्रनाथ उसी नगर में आए। वे प्रतिदिन भिक्षा के लिए कुछ घरों में जाते थे। एक दिन मच्छेन्द्रनाथ भिक्षा के लिये सद्बोध के घर आये। वह घर पर नहीं था। उसकी स्त्री भिक्षा देने आई। उसको देख कर मच्छेन्द्रनाथ ने कहा—तुम्हारा मुँह सूखा क्यों है क्या तुम दुःख से यह भिक्षा दे रही हो? यदि ऐसी बात हो तो यह भिक्षा हमारे काम की नहीं। स्त्री ने कहा—महाराज! साधु को भिक्षा देना हमारा धर्म है, इसमें दुःख कैसा। हमारे घर में खाने पीने का भी है, और भी किसी बात का कष्ट नहीं है, हाँ, एक लड़का नहीं है, इसीकी हम को चिन्ता है और उसी चिन्ता के कारण शायद मेरा मुँह सूख गया हो, मच्छेन्द्रनाथ ने अपनी झोली से थोड़ी सी भस्म निकाली, उसे अभिमन्त्रित किया और वह स्त्री को दी। भस्म देकर मच्छेन्द्रनाथ ने कहा—यह तू खाजा, तेरा मनोरथ पूरा होगा। भिक्षा लेकर मच्छेन्द्र-नाथ चले गये, स्त्री भी अपने घर में गई।

मच्छेन्द्रनाथ के जाने के पीछे पड़ोस की एक स्त्री उसके घर आई और उसने बाबा के आने की बात पूछी। ब्राह्मणी ने सभी बातें कह दीं, बाबा ने क्या पूछा, और उस का उत्तर उसने क्या दिया, तब बाबाने क्या किया आदि सब बातें सुनकर स्त्री ने कहा—बहिन! वह भस्म

तुम खाना मत, ये बाबा बड़े विकट होते हैं, न मालूम इन्होंने भस्म में क्या दिया हो, और उससे क्या हो जाय हमें तो ऐसे बाबाओं को देख कर बड़ा भय लगता है। मेरी बात अगर मानो तो वह भस्म तुम मत खाओ। उसे चूल्हे में डाल दो। उस स्त्री की बातों से ब्राह्मणी बहुत डर गई, उस बाबा की दी हुई भस्म न खाने का ही निश्चय किया, पर चूल्हे में न फेंक कर वह एक खड्डे में फेंक आई जहाँ गोबर आदि रखा जाता था और अपनी पति से भी ये बातें न बतलायीं। उसे भय हो गया था। वह मन में डरती थी कि कहीं पति इन बातों को सुन कर नाराज़ न हो जायें। धीरे २ दिन बीतने लगे। इस बात को सब लोग भूल गये। बारह वर्ष बीतने पर पुनः मच्छेन्द्रनाथ उस जयश्री नामक नगर में आये, पुनः नाथजी प्रतिदिन भिक्षा के लिये नगर में निकलने लगे। एक दिन उस ब्राह्मण के घर में भी गये और 'अलख' पुकार बाहर खड़े हो गये। उन्होंने उस घर को पहचान लिया, बारह वर्ष पहले की बात उन्हें स्मरण आई। यही घर है जिस में मैंने एक स्त्री को भस्म दी थी। इस बात के स्मरण आते ही उन्होंने पुकार कर कहा—कहो माँ! तुम्हारा लड़का कैसा है? ब्राह्मण भी घर ही में था। स्त्री स्वयं भिक्षा देने नहीं आई, वह नाथ बाबा की यह पुकार कि "कहो तुम्हारा लड़का कैसा है" सुन चुकी थी, इससे वह डर गई, उसने मन में सोचा कि बाबा को क्या जवाब दूँगी वे तो लड़के की बात पूछते हैं। मेरे नहीं कहने पर वे अपनी भस्म की बात अवश्य पूछेंगे फिर मैं क्या

उत्तर दूँगी, सच्ची बातें कहने से अवश्य ही बाबा अप्रसन्न होंगे और झूठी बात मैं कैसे कह सकूँगी। इसी सोच विचार में पड़ कर वह स्वयं भिक्षा देने नहीं गई और अपने पति से भिक्षा दे आने के लिए कहा। ब्राह्मण भिक्षा लेकर नाथ बाबा के सामने आया और नम्रता के साथ खड़ा हो गया।

मच्छेन्द्रनाथ ने ब्राह्मण को देखा। वे समझ गये कि यह उस स्त्री का पति है। यही समझ कर उन्होंने उससे पूछा—तुम्हारी स्त्री और लड़के अच्छे तो हैं? ब्राह्मण ने हाथ जोड़ कर कहा—महाराज! हम लोग भाग्यहीन हैं। हम लोगों को आज तक कोई सन्तान ही न हुई फिर पुत्र कहाँ से आया। हाँ, स्त्री अच्छी है। मच्छेन्द्रनाथ ने कहा नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, तुम्हें तो पुत्र होना चाहिए! ब्राह्मण नाथ बाबा के पहले आगमन की कोई बात जानता न था अतएव उसने अपनी स्त्री को बुलाया और कहा—ये नाथ बाबा क्या कहते हैं? स्त्री आई, उसने अपने पति और नाथ बाबा को प्रणाम किया और जो बात हुई थी वह सब कह सुनाई। मच्छेन्द्रनाथ ने कहा—तुम अभागी हो, तुम्हारी कुबुद्धि ने तुम्हें एक योगी पर अविश्वास करना सिखाया; अच्छा, बताओ वह भस्म तुमने कहाँ फेंकी? ब्राह्मणी नाथ बाबा को उस स्थान पर ले गई और उसने बतला दिया कि उस खड्डे में मैंने आपकी भस्म फेंक दी थी। नाथ बाबा ने जोर से कहा "अलख" "अलख" उधर से आवाज आई "आदेश" इस आवाज के साथ ही एक बारह वर्ष का सुन्दर बालक बाहर आया और बाबा मच्छेन्द्रनाथ के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा

हो गया। नाथ बाबा ने ब्राह्मण और ब्राह्मणी की ओर देखा तक नहीं, वे उस लड़के को साथ लेकर चले गये। वही लड़का गोरखनाथ गुरु गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस घटना को देख कर ब्राह्मण और ब्राह्मणी को बड़ा दुःख हुआ। महात्मा स्वयं प्रसन्न हुए और उन्होंने पुत्र दिया पर हम लोगों ने अभाग्यवश वह लिया नहीं। ब्राह्मणी को कम दुःख न हुआ। वह तो इस घटना के बाद से सदा चिन्ता में ही रहने लगी पर अब तो कोई उपाय न था। भूल जो हुई सो हुई, उसका सुधार तो नहीं होता। भूल के सुधार का एक ही उपाय है, और वह है भूल को भूल जाना। समय बीतने लगा। ब्राह्मण-दम्पती भी अपनी भूल भूलने लगे, धीरे २ इनका चित्त शान्त हो गया।

मच्छेन्द्रनाथ गोरखनाथ को अपने साथ ले गये। नाथ बाबा ने गोरख की शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया। साथ २ योग की शिक्षा वे स्वयं देने लगे, गोरखनाथ का जन्म दैवबल से हुआ था, उनकी शक्तियाँ दैवी थीं। बहुत ही जल्दी वे शिक्षित हो गये और योग की भी उत्तम सिद्धियाँ उन्होंने प्राप्त कर लीं। बड़े २ सिद्धों में इनकी गणना होने लगी। गोरखनाथ ने एक दिन गुरु मच्छेन्द्रनाथ से कहा—महाराज! कृपा कर एक पुत्र मेरे माता पिता को आप दें, गुरु ने गोरखनाथ का कहना मान लिया। गोरखनाथ के कहने से उस लड़के का नाम नाथवरद रखा गया।

गोरखनाथ मधुकरी माँगने के लिए रोज नगर में जाते थे। एक दिन किसी स्त्री ने गोरखनाथ को मधुकरी में बड़े दिये। मच्छेन्द्रनाथ ने उन बड़ों को बहुत पसन्द किया। गोरखनाथ

दूसरे दिन भी उस ब्राह्मणी के घर पहुँचे और उन्हों ने बड़े माँगे। ब्राह्मणीने कहा—महाराज! आज बड़े नहीं हैं,कल बनाये थे वही आपको भी दिये थे, आज नहीं हैं। गोरखनाथ अड़ गये। उन्होंने कहा—मैं तो बड़े ले कर ही जाऊँगा। ब्राह्मणी ने बहुत समझाया, पर वे अड़े ही रहे। अन्त में ब्राह्मणी ने कहा—अच्छा तू अपनी एक आँख निकाल कर रख दो तो मैं तुझे बड़े दूँ। यहाँ क्या देर थी। गोरखनाथ ने झट अपनी एक आँख निकाली और ब्राह्मणी के सामने रख दी। योगी के इस साहस और बड़े पर उसके प्रेम को देख कर ब्राह्मणी डरी और घबड़ायी! वह झट गई और बड़े बना कर गोरखनाथ को भिक्षा में दिया। गोरखनाथ भिक्षा लेकर गुरु के सामने आये और भिक्षालब्ध वस्तु उन्होंने गुरु के सामने रख दी। गुरु ने पूछा—यह क्या दशा है, आँख कैसे फूटी। गोरखनाथ ने जो घटना हुई थी, वह सुना दी, पर गुरु को उस पर विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने कहा—झूठी बात है, अच्छा दूसरी आँख भी हमको निकाल कर दो तो देखूँ तुम्हारे साहस। गोरखनाथ ने झट गुरु की आज्ञा का पालन किया, दूसरी आँख भी निकाल कर उन्होंने गुरु के सामने रख दी। गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए, उन्होंने मन्त्रोप्रचार द्वारा गोरखनाथ की दोनों आँखें ठीक कर दीं।

गोरखनाथ बड़े गुरुभक्त थे, सदा गुरु के साथ छाया के समान रहा करते थे; गुरु की इच्छा और आज्ञा का सदा ध्यानपूर्वक पालन करते थे। इससे गुरु की कृपा इन पर विशेष थी। मच्छेन्द्रनाथ के मन्त्रिमंडल में पहला स्थान गोरखनाथ को मिला। गोरखनाथ योगी सिद्ध और विद्वान् थे।

कारणवश इनके गुरु सिंहलद्वीप की रानी के यहाँ कैद हो गये थे। गोरखनाथ सिंहलद्वीप में पहुँचे और रानी को अपने चमत्कार दिखाकर गुरु को छुड़ाया। रानीके मृतपुत्र को जीवित किया ।

गोरखनाथ ने कई ग्रन्थ भी बनाये हैं। उनके नाम ये हैं:—गोरक्षकल्प, गोरक्षशतक, गोरक्ष सहस्रनाम, गोरक्षगीता, गोरक्षपद्धति । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त विवेकमार्तण्ड नाम का एक और ग्रन्थ गोरखनाथ का बनाया है जिस में तीन हज़ार श्लोक हैं। गोरखनाथ के प्रधान शिष्य का नाम चर्पटी-नाथ था। गोरखपुर नाम का नगर इन्हीं का बसाया है।

नाथलीलामृत नामक एक ग्रन्थ है उस में नाथ सम्प्रदाय के आचार्यों का वर्णन है। उस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में लिखा है—गोरखनाथ बड़े सिद्ध थे। उन्होंने गोरखपुर में एक मन्दिर बनवाया था। अलाउद्दीन नाम के एक दिल्ली-बादशाह ने वह मन्दिर तुड़वा दिया और वहाँ एक मसज़िद बनवाई। अवसर पाकर गोरखनाथ के शिष्यों ने वह मस-ज़िद तोड़ दी और मन्दिर बना लिया। वह मन्दिर कुछ दिनों तक बना रहा । पुनः औरंगज़ेब नाम के बादशाह ने उस मन्दिर को तोड़ा और वहाँ मसज़िद बनाई। गोरख-नाथ के शिष्यों ने भी वही अपनी पुरानी चाल चली। उन लोगों ने मसज़िद तोड़ कर मन्दिर बनवाया। वह मन्दिर अभी तक वर्तमान है। गोरखनाथ ने बौद्धनाथ अपने शिष्य के द्वारा मन्दिर के बनाये जाने की बात कह रखी थी। गोरख पुर के पश्चिम वह देवालय है। उस देवालय के दक्षिण ओर पशुपतिनाथ महादेव और हनुमान का मन्दिर है। उस देवा-

लय के मण्डप में नाथसम्प्रदायी पुरुषों की समाधि है। इस सम्प्रदाय के संन्यासी शिखा-सूत्र का त्याग नहीं करते। इस आश्रम में चारों वर्णों के मनुष्य प्रविष्ट हो सकते हैं।

गोरखनाथ ने अपनी वृद्धावस्था काठियावार प्रान्त में प्रभासपाटन के पास के एक जंगल में बिताई थी। वहाँ इनके गुरु भी रहते थे। इनकी सिद्धता को देखकर वहाँ का राजा भी इनका बड़ा आदर करता था। इनका आश्रम गोरख-मढ़ी के नाम से अभी तक प्रसिद्ध है इसी नामका एक गाँव भी वहाँ बसा है। राजा के दिये हुए बारह गाँव की आम-दनी से गोरखमढ़ी के महन्तों का खर्च चलता है।

गोरखनाथ के अनेक चमत्कार सुनाई पड़ते हैं। सियाल-कोट के राजा ने राज्य का त्याग किया और वह गोरखनाथ का शिष्य हो गया। इन्होंने अपने समयमें योग का खूब उपदेश दिया। शारीरिक शक्तियाँ मानसिक शक्तियों के अधीन कैसे की जाती हैं और वैसा करने से क्या लाभ होता है, यही गुरु गोरखनाथ की शिक्षा है।

भर्तृहरि।

आज से दो हजार वर्ष पहले उज्जयिनी नगरी न केवल भारत में ही किन्तु अन्य देशों में भी प्रसिद्ध थी। इस नगर की प्रसिद्धि का कारण यह था कि भारत का सम्राट् वहीं रहता था। प्रसिद्ध भारतीय सम्राट् विक्रमादित्य की वही राजधानी थी। विक्रमादित्य ईसवी सन् के पहले वहाँ राज्य करते थे, विक्रम के पहले इसके बड़े भाई भर्तृहरि राजा वहाँ के राजा थे। इनके पिता का नाम गन्धर्वसेन था।

गन्धर्वसेन के पीछे कुलक्रमानुसार भर्तृहरि राजा हुए। भर्तृहरि विद्वान् थे, नीतिनिपुण थे। इन्हों ने चन्द्राचार्य से गहन शास्त्रों का अध्ययन किया था। वे स्वयं कवि थे, शास्त्रज्ञ थे, धर्मात्मा थे, प्रजापालक थे, अपने कार्य में सदा जागृत रहते थे, प्रजा के साथ मिलकर उसके दुःख सुख आदि की बातें जाना करते थे, और उन्हें सुखी करने का प्रयत्न किया करते थे। इन्होंने अपने राज्य में विद्वानों, मूर्खों, धनियों, दरिद्रों आदि किसी पर अन्याय न होने पावे, राज-कर्मचारी मन-माने ढंग से स्वार्थ के वशीभूत होकर प्रजा को सताने न पावें, आदि की उचित और उत्तम व्यवस्था की थी।

राजकाज में सहयता देने के लिए आठ दीवान नियत किये थे, वे सभी विद्वान, योग्य और नीतिज्ञ थे। अच्छे २ वीर इनकी सेना में थे, इनका सेनापति वीर, विद्वान् और धीर था। इनकी सभा के सभासद प्रायः सभी विद्वान् थे। इन लोगों की सहायता से अच्छे ढंग से राज्य का कार्य चलता था, किसी पर अन्याय नहीं होने पाता था। सब के साथ विशुद्ध न्याय होता था। न्याय बेंचा भी नही जाता था। घूस लेने वाले हाकिमों को प्राणदण्ड की आज्ञा होती थी, राजा की आज्ञा से और तत्परता से राज-कर्मचारी भी प्रजा के कल्याण के लिए सच्चे दिल से तय्यार रहते थे। राज्य की ओर से धर्मोपदेशक नियत थे जो नगरों और गाँवों में जा जाकर धर्मोपदेश दिया करते थे। राज्य की ओर से पाठशालाएँ और औषधलाएँ स्थापित थीं, बिना फ़ीस के वैद्य रोगियों की चिकित्सा करते थे। रुपया न खर्च होने के कारण रोग से कोई तड़पता न था। प्रजा सुखी थी।

कालिदास कहते थे कि ब्रह्मा अपनी सृष्टि सम्पूर्ण नहीं बनाते, वे अधूरी सृष्टि बनाने के आदी हैं, सब उत्तम बनाकर उस में कुछ न कुछ खोंड़ डाल देते हैं। राजा भर्तृहरि भी इस उक्ति के उदाहरण से बाहर न थे। राजा भर्तृहरि को तीन रानियाँ थीं। इन रानियों में पिंगला नाम की रानी सब से सुन्दरी थी। इस कारण राजा उसके वश हो गये। राजा स्वयं गुणी थे, न्यायी थे, विवेकी थे, पर पिंगला की बिना परीक्षा किये ही उसके वश में हो गये। पिंगला ने राजा की यह दशा देख कर और भी उन्हें अपने अधीन करने के उपाय किये। कामांध हो राजा रूप के फंदे में फँस गया। अब राजा का अधिक समय पिंगला के समीप ही बीतने लगा। पिंगला रानियों में प्रधान हुई, राजा उसके वश में हुए, पर दुराचारिणी पिंगला छिपे छिपे किसी अश्वपाल पर प्रेम रखती थी।

राजा का अब क्रम बदल गया, राजा सदाही रनिवास में रहने लगे, इससे मन्त्रिमंडल इन पर असन्तुष्ट रहने लगा। कइयों ने राजा को ठीक रास्ते पर आने के लिए समझाया भी। इनके कई अन्तरंग मित्रों ने फटकार भी बतायी। यद्यपि वे इसका फल जानते थे, यद्यपि राजकोप में पड़ने का क्या परिणाम होता है यह उन्हें मालुम था, तथापि सन्मित्र के कर्तव्य से विवश होकर इन लोगों ने राजा के दोषों को बतलाया और उससे होनेवाली हानियाँ भी समझायीं, पर राजा के ध्यान में कोई भी बात न आयी क्योंकि राजा उस समय कामान्ध हो गया था, कामान्ध व्यक्ति का विवेक पहले ही नष्ट हो जाता है, वह अपनी प्रेमिका को ही सर्वस्व

समझने लगता है, उसे ही वह सब गुणों का आधार मानता है। इस कारण राजा भर्तृहरि के हृदय में पिंगला के विरुद्ध कोई भी बात स्थान नहीं पाती थी, सत्य और प्रामाणिक बात भी यदि पिंगला के विरुद्ध है तो राजा उसे असत्य और अप्रामाणिक समझता था। अतएव मित्रों का उपदेश राजा पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका।

राजा भर्तृहरि के छोटे भाई का नाम विक्रमादित्य था, ये शूर, वीर, विद्वान् और धर्मात्मा थे। राज्य में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, राजकाज में ये बड़ी सहायता पहुँचाते थे, राजा भर्तृहरि का भी इनपर विश्वास था अतएव वे रोकटोक इन्हें रनिवास में भी आने जाने की आज्ञा थी। विक्रमादित्य भी अपने बड़े भाई को पिता के समान और रानियों को माता के समान मानते थे और उनकी आज्ञाओं को पालन करते थे। राज्य के कई विभागों का कार्य उनके हाथ में था, घोड़ों का अस्तबल भी उन्हीं के अधीन था, अश्वशाला के उन कर्मचारियों को जो बुरे थे, चोर थे उन्हें विक्रमादित्यने दण्ड दिया था और जिस अश्वपाल का पिंगला से प्रेम था उस पर भी विक्रमादित्य की तीखी नज़र पड़ती थी। उसके कार्यों पर ये असन्तुष्ट थे तथा अपने कार्य पर ध्यान न देने के कारण भी वे ढूढ़ रहे थे। वह अश्वपाल भी यह बात ताड़ गया और विक्रमादित्य की तीखी नज़र का परिणाम भी वह समझ गया।

राजा ने एक दिन विक्रमादित्य को बुलाकर कहा—भाई! तुम्हारी निष्कपट धर्मवृत्ति देखकर मैं पसन्न हूँ। अब राज का और काम भी तुम अपने हाथ में ले लो जिससे मेरा भार हलका हो जाय। प्रजा को सब प्रकार से सुखी रखने का

उपाय करना ही राजनीति का सर्वोत्तम सिद्धान्त है। इसी प्रकार और भी बातें कह कर राजा ने राज्य के और कई अधिकार विक्रम के हाथ सौंप दिये। विक्रम भी बड़े भाई की आज्ञा के अनुसार अपने अधीन के विभागों का न्याय और तत्परता के साथ करने लगे। अश्वपाल विक्रम की शक्ति बढ़ जाने के कारण और भी भयभीत रहने लगा। अन्तमें उसने पिंगला से यह बात कही और विक्रम को निकलवाने के लिए प्रयत्न करने के ढंग भी उसने बतलाये। दुराचारिणी स्त्रियों के लिए संसार में असाध्य कुछ भी नहीं होता, पिंगला विक्रमादित्य पर कलंक लगाकर उन्हें निकालने के लिए तैयार हो गयी, और उसने एक दिन राजा से कह दिया कि विक्रम एक दिन मेरे यहाँ आया था और उसने दुराचार की मुझ से बातें कीं।

पिंगला का इतना कहना काफी था। राजा भर्तृहरि को पहले इस बात से आश्चर्य हुआ क्योंकि इसे विक्रमादित्य की धार्मिकता और सदाचारिता पर विश्वास था, पर पिंगला की बातों के सामने वह टिक न सका। राजा ने विक्रम को बुला कर कहा। राजा की तीखी और असत्य बात सुन कर अवाक् रह गया, उसकी बोली नहीं निकली। थोड़ी देर में सावधान होकर विक्रम ने कहा कि आप यह क्या कर रहे हैं, आप विवेकी हैं आपको समझ बूझ कर जाँच पड़ताल कर ऐसी बातें कहनी चाहिए, मैंने स्वप्न में भी दुष्ट संकल्प नहीं किया है, मैं पिंगला को अपनी माता के समान समझता हूँ, मैंने नीतिमार्ग का कभी भी उल्लंघन नहीं किया, आप क्या कह रहे हैं, आपकी बातों से मैं अचम्भित हो गया हूँ। मेरे

व्यवहारों का आपको पता है ऐसी दशा में आप सन्देह क्यों कर रहे हैं।

महाराज! अभी समुद्रों ने अपनी मर्य्यादा नहीं छोड़ी है, अभी सूर्य में प्रकाश विद्यमान है, अभी हंस कौओं के समान नहीं चलते, अभी सिंह घास खाने के लिए नहीं जाता। अभी सज्जनों के हृदय में दया वर्त्तमान है। अभी पश्चिम में सूर्योदय नहीं होता, अभी पुत्र का माता पर प्रेम वर्तमान है, ऐसी दशा में मैं नीतिविरुद्ध नीच आचरण कैसे करूँगा। मेरे विषय में आपका ऐसा विचार क्यों हुआ। जब से मुझे ज्ञान हुआ तब से मैंने आजतक आपकी सेवा प्रेमपूर्वक की है, शास्त्रों में बड़े भाई के प्रति, राजा के प्रति, छोटे भाई के और प्रजा के जो कर्तव्य बताये हैं उनका पालन आज तक मैं ने किया है, ऐसी दशा में आपकी बातों से मैं विशेष मर्माहत हुआ हूँ, आपकी बातें मुझे वज्र के समान प्रतीत होती हैं, आप इन बातों की जाँच करें तब आपको इनका रहस्य मालूम हो जायगा।

भर्तृहरि ने कहा—तुम कल रनिवास में गये थे या नहीं? विक्रम ने कहा—नहीं, कल मैं आप से राजमहल में मिल चुका था अतएव वहाँ जाने की कोई आवश्यकता न थी। और रात्रि में अपने घर में शिवपूजन करता था। भर्तृहरि ने कहा कि शिवरात्रि के दिन महाकालेश्वर के अभिषेक में तुम सब लोगों के साथ शामिल क्यों न हुए? विक्रम ने कहा—मैं सदा एकान्त में शिवपूजन करता हूँ, यह बात सब को मालूम है और आप भी इसे जानते हैं। इसी प्रकार की और भी कई बातें विक्रम ने अपने निर्दोष होने के प्रमाण में कहीं, पर

राजा के ध्यान में कोई भी बात न आयी और राज़ा ने विक्रम को देश निकाले का दण्ड दे दिया।

राजाज्ञा सुनकर विक्रम ने कहा—भरत और लक्ष्मण की जैसी भक्ति रामचन्द्र पर थी, भीम और अर्जुन की जैसी भक्ति युधिष्ठिर पर थी वैसी ही शुद्ध भक्ति आप पर मेरी है। आप इस प्रकार मुझ पर बिना विचारे क्रोध करते हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि मुझे इन बातों का बिल्कुल पता नहीं। मैं रनिवास में तीन दिन से नहीं गया, पिंगला की दासी को मैंने देखा भी नहीं है ये सब बातें बनावटी हैं। आप धर्मात्मा न्यायी होकर भी मुझपर ऐसा दोषारोपण करते हैं इससे मालूम पड़ता है कि दैव की कुछ दूसरी इच्छा है। मालूम होता है कि इस देश पर कोई बड़ी आपत्ति आने वाली है, सम्भवतः यह समूचा राज्य नष्ट होने वाला है, ऐसा न होता तो आपके हृदय में ऐसी बातों को स्थान क्यों मिलता ?

राजा ने कहा—विक्रम चुप रहो, और अधिक न बोलो क्योंकि तुम्हारी झूठी बातों से मैं अपवित्र हो रहा हूँ, तू शीघ्रही इस देश से निकल जा। विक्रमादित्य ने क्रोध से कहा—मैं जाता हूँ मैं मालवादेश का त्याग करता हूँ। जिसके हृदय में कभी दुष्ट संकल्प उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसने आपको पिता के समान और आपकी स्त्री को माता के समान समझा है, जिसने आप लोगों को पुत्रवत् आचरण किया है, उसे आज आप एक दुराचारिणी स्त्री के कहने से देश निकाला देते हैं, अब इस देश में एक मुहूर्त रहना भी मेरे लिए लज्जा की बात है।

राजन्! सत्य छिपता नहीं, कभी न कभी उसका प्रकाश होता है, इस घटना के सम्बन्ध में कभी ऐसा ही हो, यदि कभी आप को सत्य बात मालूम हो जाय तो आप के हृदय में पश्चात्ताप होगा वा नहीं यह तो मैं नहीं जानता और न जानने की आवश्यकता ही है, पर मेरे विषय में जो बुरे भाव इस समय वर्तमान हैं उन्हें बदल दीजिएगा। राजा से इतना कह कर देश को प्रणाम किया और अपने कामान्ध भाई पर दया रखने की प्रार्थना की और वे वहाँ से चले गये।

यह खबर चारों ओर फैल गई, इस खबर को सुनकर मंत्रिमंडल सेनापति और प्रजा बहुत ही दुःखी हुए। राजा भी पिंगला के बनावटी प्रेम में फँसता गया। इससे राज्य में चारों ओर अव्यवस्था फैलने लगी। राज्य की दुर्दशा देख कर प्रधान मंत्री ने राजा से कहा—महाराज! राजकाज में आप के ध्यान न देने से बड़ी हानि हो रही है, खजाने की भी दशा शोचनीय हो रही है प्रजा का धन प्रजा की भलाई के लिए व्यय नहीं होता। प्रधान मंत्री राजा से ये बातें कह रहे थे उसी समय दरबारी वेश्या ने आकर राजा को अमरफल भेंट की। उस फल को देख कर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि यह फल पहले राजा के पास आया था और राजा ने पिंगला को दे दिया था। यह फल शान्तिस्वरूप नामक एक ब्राह्मण को किसी ऋषि ने दिया था। ब्राह्मण ने सोचा कि यह फल खाकर यदि मैं अमर हुआ तो सदा ही मुझे भिक्षा माँगनी पड़ेगी और दुःख उठाना पड़ेगा,

अतएव यह फल राजा भर्तृहरि को देना चाहिए जो अमर होकर धर्मपूर्वक प्रजा पालन करेगा और धर्म की रक्षा करेगा? ऐसा सोच कर ब्राह्मण ने उस राजाको भेंट दी थी। राजा ने यह अमरफल पाकर सोचा कि यह फल मैं प्यारी पिंगला को दूँ, जिस से सदा वह युवती बनी रहे यह सोच कर राजा ने वह फल पिंगला को दे दिया। पिंगला का प्रेम अश्वपाल पर था अतएव उसने अश्वपाल को अमर बनने के लिए वह फल उसे दे दिया। अश्वपाल उस वेश्या पर अनुरक्त था अतएव उसने वेश्याको वह फल दिया। फल पाकर वेश्या ने सोचा कि इस फल को खाकर यदि मैं अमर हुई तो सदा यह वेश्या का नीच काम करना पड़ेगा अतएव यह फल राजा को देना चाहिए जिसे खाकर वे अमर हो जाएँ और सदा धर्मपूर्वक प्रजापालन किया करें, यही सोच कर उसने वह फल राजा को भेंट दी। इस प्रकार वह अमरफल राजा के यहाँ से घूमता २ पुनः राजा के यहाँ पहुँचा था। और जिस से अनेक रहस्यों के भंडाफोड़ होने का साधन उपस्थित हो गया था।

फल को देख कर राजा ने घुड़क कर वेश्या से पूछा कि यह फल तुम्हें कहाँ मिला? वेश्या ने कहा कि यह फल मुझे अश्वपाल ने दिया है। अश्वपाल को बुलाकर राजा ने उसे डाँटा और उसे अमरफल कहाँ मिला यह पूछा, डर कर अश्वपाल ने रानी पिंगला से उस फल का मिलना बतलाया। राजा की आज्ञा से अश्वपाल के घर की तलाशी ली गई और वहाँ रानी की दी हुई अनेक वस्तुएँ

मिलीं, राजा ने उस दासी को भी बुलाया और उससे अनेक बातें मालूम कीं। इन बातों के जानने से राजा क्रोध से व्याकुल हो गये, वे वहाँ से उठ कर पिंगला के पास गये, पर पिंगला को अभी तक इन बातों की खबर न थी। राजा ने भी जाकर अपने व्यवहारों से उसे कुछ जनाने न दिया, पिंगला अपने पातिव्रत्य का महत्व फैलाने लगी। राजा ने प्रसंग उठाकर अमरफल की बात निकाली। पिंगला ने कहा—मैं तो कलही आप के जाने पर वह फल खागई, पिंगला ने अपनी बात प्रमाणित करने के लिए शपथ भी किया, तब राजा ने वह फल दिखलाया, फल को देखते ही पिंगला का मुँह काला हो गया, पर फिर भी उसने बात बनाना शुरू किया, अपनी निर्दोषिता बतलाने लगी। उसने दासी का दोष दिया। राजा ने दासी को भी बुलाया और धमका कर उससे सब बातें उन्होंने पूछ लीं पर इस पर भी पिंगला बोलती ही गयी, राजा को पहले से ही क्रोध आया था, पिंगला के इस आचरण ने उनका क्रोध और भी बढ़ा दिया। उन्होंने पिंगला को धिक्कार देते हुए कहा—तुम ने मुझे पागल बनाकर मेरा राज नष्ट किया। मैंने अपना धन, तन, मन तथा यह अमरफल सभी तुमको दिया, पर यह अमरफल तुम्हारे योग्य नहीं था, इसका योग्य अधिकारी तो मैं था और इससे यह पुनः मेरे पास आया। ऐसा कह कर राजा ने वह फल खा लिया। पिंगला ! तुम को धिक्कार है, तुम्हारे माता पिता को धिक्कार है और उस कुल को धिक्कार है जिस में तुम्हारे समान नीच स्त्री उत्पन्न हुई। दुष्टा तू स्वयं

पापिनी है, दासी का दोष नहीं, और सब से अधिक दोष है मेरा, जो मैं तेरे नीच व्यवहारों को शुद्ध समझ कर उस में फँस गया। अच्छा अब आज से तू अपना काला मुँह न दिखलाना और मैं भी जाता हूँ।

राजा मन ही मन सोचने लगे, जिस का मैं सदा चिन्तन करता हूँ वह मुझ से प्रेम नहीं रखती और वह दूसरे पुरुष को चाहती है, वह पुरुष भी किसी दूसरे पर अनुरक्त है, मुझ पर प्रेम रखनेवाली कोई दूसरी ही है, अतएव उस स्त्री को धिक्कार, उस पुरुष को धिक्कार, यह काण्ड कराने वाले काम को भी धिक्कार, इस स्त्री को धिक्कार और मुझ को धिक्कार। इसी आशय का एक श्लोक भर्तृहरिशतक में है:—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यंन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च॥

राजा को विक्रमादित्य की बातों का स्मरण हुआ। वे विक्रमादित्य के आचरणों का और उन की शुद्धता धार्मिकता को स्मरण कर व्याकुल हो गये, उस निर्दोष पर जो अत्याचार राजा ने किये थे वे एक एक राजा के सामने आने लगे और उन से राजा का दुःख बढ़ने लगा। उन्होंने अपने को बहुत धिक्कारा। दुराचारिणी स्त्री के लिए सदाचारी भाई के देश निकाले की बात सोच कर राजा मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छा टूटने पर वे सन्यास लेने की तैयारी करने लगे। इस प्रकार राजा पश्चात्ताप कर रहे थे कि वहीं दीवान सेनापति आदि आ गये। उन लोगों ने राज त्याग कर बन में न जाने को

सम्मति दी और सम्मति मानने का अनुरोध भी किया। पर राजा ने किसी की बात नहीं सुनी। राजाने कहा—इस मायामय संसार में कौन किसका है, कोई भी सत्य वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। राजा झूठा, राज्य झूठा, स्त्री झूठी, स्त्री का प्रेम झूठा और भी जो पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे सब झूठे हैं, इस संसार में ऐसी कोई निर्भय वस्तु मैं ढूँढ़ना चाहता हूँ, जिस का आश्रय लूँ। भोग में रोग का भय है, कुल में भ्रष्ट होने का भय है, द्रव्य में नाश का भय, प्रतिष्ठा में दीनता का भय, बल में शत्रु का भय, रूप में स्त्री का भय, गुण में खल का भय, और शरीर को काल का भय है, इस प्रकार सभी वस्तु भययुक्त हैं, पर इस संसार में भी यदि कोई भयशून्य वस्तु है तो वह वैराग्य ही है, मैंने उसी का आश्रय ग्रहण करने का निश्चय किया है, उसी का आश्रय लेने के लिये गंगातीर भवन में जाऊँगा। वहाँ किसी महात्मा से संन्यास ग्रहण करूँगा, जिससे इस संसार के बखेड़े से मुक्ति मिले, गुरुकृपा से वह कुछ असाध्य नहीं है।

न वैराग्यात् परं भाग्यं न बोधादपरःसखा।
न हरेरपरस्त्राता न संसारात् परो रिपुः॥१॥

वैराग्य से बढ़कर कोई भाग्य नहीं, ज्ञान से बढ़कर कोई मित्र नहीं, विद्या से बढ़कर कोई रक्षक नहीं और संसार से बढ़कर कोई शत्रु नहीं।

राजा के निश्चय के सामने मन्त्रियों का समझाना बुझाना सभी व्यर्थ गया अपने निश्चय के अनुसार राजवेश उतारकर संन्यासी वेश धारण कर वे बन में चले गये।

यह खबर बिजली के समान समस्त शहरों में और पुनः समस्त राज्य में फैलगई। इस खबर से लोग बहुत दुःखी हुए। रामचन्द्र के बन जाने के समय जो दशा अयोध्या नगरी की हुई थी यही दशा उज्जयिनी नगरी की हुई। प्रजा नगर से बाहर जाकर राजा भर्तृहरि को ढूँढने लगीं और उनके शोक में विलाप करने लगीं, रनिवास में हाहाकार मचगया, पापिन पिंगला भी इस काण्ड का मूल अपने को समझकर पछाड़ खा खा कर रोने लगी, बड़े कठिन हृदय वाले मनुष्य भी रो पड़े। नगरनिवासी गाँव से बड़ी दूरतक चले गये, पर मन्त्रियों के समझाने से वे लौट आये। प्रधानसचिव ने विक्रमादित्य को ढूँढने के लिए दूत भेजा।

योगी का वेष बनाकर भर्तृहरि अकेले वन में चलते चलते एक सघन वन में जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ का आश्रम था वहाँ वे पहुँचे। उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को प्रणाम किया। गुरु गोरखनाथ ने इनके वैराग्य की परीक्षा ली, गुरु मत्स्येन्द्रनाथ राजा के वैराग्य की और परीक्षा लेने के लिए अपने दो शिष्यों के साथ रानियों से भिक्षा माँगलेने के लिए भेजा। गुरुकी आज्ञा के अनुसार राजा रानियों से भिक्षा माँग ले गये। रानियों से भिक्षा माँगने के समय इनमें बहुत कथोपकथन हुआ पर राजा अटल रहे। इस प्रकार कई तरह की परीक्षाओं से जब गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को राजा के दृढ़ वैराग्य का निश्चय हो गया तब उन्होंने राजा को मन्त्रोपदेश किया, और भी बहुत सी ज्ञान की बातें उन्होंने बतलाईं। ये ही मत्स्येन्द्रनाथ मच्छेन्द्रनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

गुरु ने कहा—इस जगत की माया अनादि काल से चली आ रही है, यह समस्त संसार बाजीगर के तमाशे के समान

हैं संसार के ये पदार्थ जिन्हें तुम देख रहे हो सब झूठे हैं। ये चौदहों ब्रह्माण्ड नाशवान हैं। यह शरीर पंच महाभूत से बना है अतएव यह क्षणभंगुर है और विकारी है। इसमें सार वस्तु क्या है इस का विचार करना चाहिए। मन को वश में करना चाहिए, जिसमें इन नाशवान् पदार्थों में मनकी आसक्ति न रहे। यह शरीर हजार वर्ष रहे चाहे लाखवर्ष इससे क्या हो सकता है। चौदहों भुवनों का राज्य यदि मिल जाय तो इससे क्या लाभ, क्योंकि अन्त में इन सब का नाश करनेवाला है, ये सब कार्य स्वार्थपूर्ण हैं, इन्द्रियों के लिए कल्पित सुख मात्र है। जो वस्तु प्रिय है, वह सत्य नहीं, यदि होती तो उसे साथ चलना चाहिए, यही बात मनुष्य के लिए भी है, प्रिय से प्रिय भी मनुष्य मरण के समय साथ नहीं देता। इस जगत में निःस्वार्थ सच्चा प्रेमी कोई भी नहीं है। पर इस क्षणभंगुर शरीर से त्रिकाल बाधित सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है इस लिए जब तक यह शरीर है तब तक उन्हीं साधन को एकत्रित करना चाहिए जिन से सच्चिदानन्द की प्राप्ति हो

भर्तृहरि ने कहा—महाराज ! किस वस्तु में मन लगाया जाय जिससे इसकी चंचलता नष्ट हो। यह सुनकर गुरु मच्छेन्द्रनाथ ने कहा—देख बच्चा ! 'अलखनिरंजन' का तुम्हें मन्त्र दिया है; उसी में तुम अपना मन लगाओ। राजा भर्तृ-हरि गुरु के उपदेश से योगाभ्यास करने लगे। योग सिद्ध होने पर योगीन्द्र भर्तृहरि (भरथरी) ने उज्जैन के पास एक गुफा बनाई, वहाँ भी उन्हों ने कुछदिनों तक योगाभ्यास किया, योगसिद्धि के परिपक्व होने पर इन्होंने ब्रह्म-साक्षात्कार का अनुभव किया।

भर्तृहरि उस समय एक प्रसिद्ध योगी और जीवन्मुक्त समझे जाते थे। उज्जैन के समीप आज भी एक गुफा भर्तृ-हरि के नाम से प्रसिद्ध है, काठियावाड़ के प्रभासपाटन में सोमेश्वर महादेव हैं, वहाँ से सात-आठ मील पर गोरख पत्नी नाम का गाँव है। भर्तृहरि ने वहाँ गुरु गोरखनाथ के पास रह कर कुछ दिनों तक योगाभ्यास सीखा था। योगीन्द्र भरथरी अमर हैं और इस समय भी वर्तमान हैं ऐसी भी प्रसिद्धि है।

'शतकत्रय' नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ भर्तृहरि के नाम से प्रसिद्ध है, इसमें नीति शृङ्गार और वैराग्य तीन विभाग हैं। राजा भर्तृहरि के बनाये श्लोकों का इनमें संग्रह है, श्लोक बड़े ही मधुर और लाभप्रद हैं।

राजा भर्तृहरि विद्वान् और भाग्यवान् थे, उन पर भगवान् की कृपा थी, जिससे कीचड़ में फँसकर भी वे निकल आये। दुःख होता है उन लोगों को देख कर, जो कीचड़ से एक बार निकलने पर भी उसमें फँसने की कोशिश करते हैं। भगवान् ऐसे मनुष्यों की रक्षा करें।

—:-:*:-:—

खड्गविलास प्रेस, पटना में रामप्रसाद सिंह द्वारा मुदित